Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 29, अंक 2
जुलाई, 2015

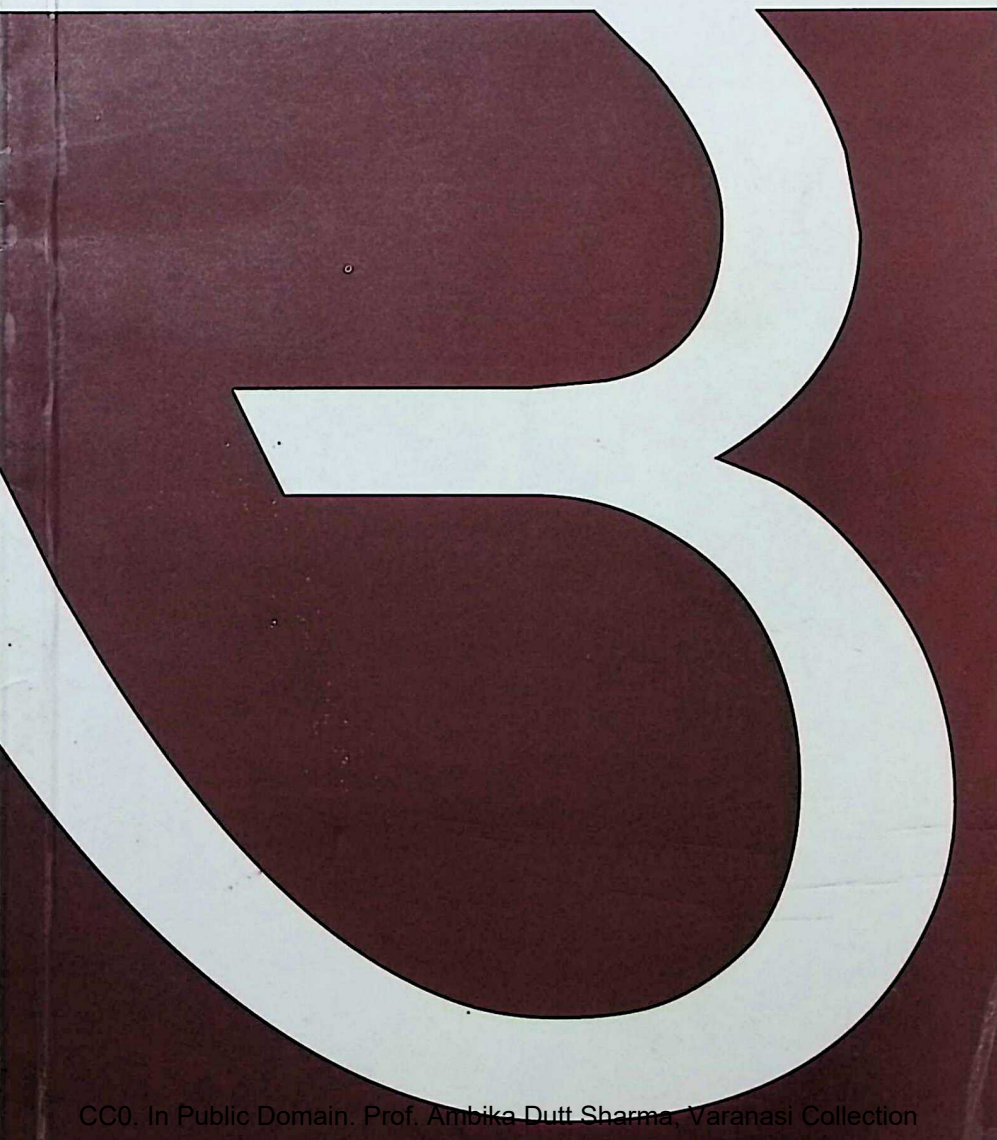

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वर्ष 29, अंक 2 जुलाई, 2015

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, 21/4, कैवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)

वार्षिक शुल्क	आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–	व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 100/–	संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुक्रमणिका

1. विषय–विषयि–भाव 5
मुकुन्द लाठ

2. बहुसंस्कृतिवाद का सांस्कृतिक संकट 77
पुनर्वितरण, पहचान एवं मान्यता की राजनीति का यथार्थ और मिथक
विश्वनाथ मिश्र

3. चित्राद्वैतप्रकाशवादः 121
हिन्दी रूपान्तरण : हरिशंकर सिंह

4. पुस्तक–समीक्षा 153
संवाद और स्वराज : दयाकृष्ण एवं रामचन्द्र गाँधी के दर्शन पर एक विमर्श
आनन्द मिश्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	– मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	– मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	– मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	– मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	– यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	– यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	– यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	– यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	– यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	– यशदेव शल्य भगवती	150.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषय-विषयि-भाव

मुकुन्द लाठ

(1)

हम अपने को विषयी के रूप में पाते हैं; पर यह 'पाना' हमें विषय भी बना देता है। पाने की यह अजीब, विलक्षण स्थिति है : विषयी अपने को असंदिग्ध भाव से विषयी जानता हुआ भी अपने को 'पाता' विषय के रूप में ही है। अपने को यों पाना हमें एक विचित्र युगनद्ध विषय–विषयि–भाव में रखता उभरता है, जहां विषयी विषय से स्वतंत्र होता हुआ भी विषय से परस्परभूत होता है। हम पाते हैं कि विषयी अपने को पाता ही नहीं, वह अपने को पाता हुआ पाता है; अपने पाने को भी पाता है। अपने को विषय रूप में पाता हुआ विषयी अपने पीछे हट कर, अपने को विषय बना कर अपने को पाने का एक ऐसा प्रत्यक् क्रम बनाता है जो क्रम कहीं रुकता नहीं दीखता। असीम जान पड़ता है। इसी क्रम में विषयी की विषय से स्वतंत्रता विषयी पर उभरती है, उस पर प्रकट होती है, उसे आत्मावगत होती है। यह प्रत्यंतहीन प्रत्यक् क्रम न हो तो विषयी अपने को विषय से भिन्न विषयी के रूप में पा नहीं सकता। उसे फिर 'मैं विषय–भिन्न विषयी हूं' यह आत्मबोध नहीं होगा, क्योंकि उसका विषय से स्वतंत्र विषयित्व विषयसात् ही रहेगा। विषयी का स्व–विषयित्व–बोध विषय–नद्ध रहते हुए भी विषय से निरंतर ऊपर उठ पा सकने में है।

इस व्यापार में विषय–विषयी युगल की जिस अगाध प्रत्यङ्मुखता का संकेत है उसे आत्मचेतना का नाम दिया जा सकता है। पर इसे 'आत्मचेतना' कहने का अर्थ यह नहीं कि यह व्यापार 'मेरे निजी आत्म' का 'मुझ–सीमित' व्यापार है। यह चेतना–सामान्य का व्यापार है, या चित् का व्यापार कहिये। यह 'मेरे सीमित–संकुचित आत्म' को ही आत्मबोध के साथ सामान्यता में बसा देता है। मेरे 'मैं' को यह दो युगनद्ध भागों में बाँटता हुआ द्विकेन्द्रिक कर देता है : ऐसे दो केन्द्र जो परस्पर–उन्मुख और परस्पर–अनुविद्ध हैं, एक–दूसरे–में घुले हुए। इस दोहरे मैं का विषयि–भाव प्रत्यक्–प्रवृत्त होता हुआ अपनी ओर मुड़ कर अपने–को–विषय–बनाता–विषयित्व होता है। इसे विषय–विषयी कहा जा सकता है। अपने आत्म को हम ऐसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषय–विषयी पाते हैं। हमारे आत्म का विषयि–भाव विषयमुख – या पराङ्मुख – रहता हुआ प्रत्यङ्मुख होता है। यह प्रत्यङ्मुखता उसके स्वातंत्र्य की दिशा है : जहां वह विषय से अलग, तटस्थ–उन्मुक्त होता हुआ अपनी ओर, अपने स्वरूप की स्व–तंत्रता की ओर, बढ़ता दिखता है। हमारा आत्म इसी आत्मचेतना की इस द्विविध उन्मुखता में रूप लेता है।

इस आत्म को हम अपनी 'अस्मिता' के रूप में पाते हैं। आत्म की आत्मचेतन प्रत्यङ्मुखता के कारण अस्मिता में द्रष्टृत्व, कर्तृत्व और भावयितृत्व का आत्मबोध और आत्मविमर्श जागता है। पशु में जहां आत्मचेतना का अभाव होता है, वहां अस्मिता भी नहीं होती; एक अनात्मचेतन अहंभाव ही होता है। द्रष्टृत्व, कर्तृत्व, भावयितृत्व के साथ मेरा 'मैं', अहं के पशुकुंचन से उन्मुक्त हो जाता है। मेरा स्व, मेरा निजी अनन्य अपनापन चेतना की उस सामान्यता में बस जाता है जहां मैं अपने को अन्य–सामान्य पाता हूं : मेरा मैं नितांत 'मेरा' स्वकीय नहीं रहता। वह अस्मिता की जिस सामान्यता में रूप लेता है, वह प्रमाण–व्यापार का बीज भी होता है : द्रष्टृत्व, कर्तृत्व, भावयितृत्व, ये प्रमाण–व्यापार की अपेक्षा रखते हैं और प्रमाण–व्यापार सामान्यता के बिना अकल्पनीय है।

यह ठीक है कि हममें अनन्यता का भी प्रखर बोध रहता है। पर कहना यह चाहिये कि हममें अनन्यता का प्रखर आत्म–बोध रहता है। हमारा अपनापन हमें नितांत निविड़–भाव से निजी अनुभूत होता है। इसी को हम 'अहंता' या 'स्व–ता' का नाम देते हैं। पर यह स्व–बोध के अनुव्यवसाय के साथ होता हुआ, अस्मिता की सामान्यता को ऊह्य रखता है। अन्य को ऊह्य रखता है। बनता ही अन्य–व्यावृत्ति के साथ है : और यह व्यावृत्ति अन्य को आत्मसम रखती हुई बनती है।

यों हमारी 'स्व–ता' स्वभाव से ही आत्मचेतन अस्मिता से और तन्निहित सामान्यता से विद्ध रहती है। हममें अस्मिता चेतना के सभी स्तरों पर जागती दिखती है। हम अपने को कितना ही अनन्य समझें, अपने को सर्वथा अनन्य रूप में 'पाना' दूभर होता है। क्योंकि हमारा अपने को 'पाना' जिस प्रत्यङ्मुख विषयित्व का व्यापार होता है, वह 'मेरा' नहीं होता है, सामान्य होता है। हम अपना बोध ही एक स्व–को–देखते–जानते–परखते स्व–संवेद के माध्यम से करते हैं, जिसके नेपथ्य में आत्मचेतना की अगाध प्रत्यङ्मुखता जागती रहती है। हमारी (मनुष्य की) चेतना में अहं – या नितांत निजी स्व – और अस्मिता के बीच कोई स्पष्ट परिच्छेदक रेखा उभरती नहीं दिखती, जैसी कि पशुओं में, या कहिये अवर प्राणिमात्र में दिखती है, जहां

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अंह अहंत्व के आत्मबोध के बिना शरीर–मन के अधिष्टातृत्व का काम करता है। पर हममें भाषा, जो आत्मचेतना के साथ रूप लेती है, हमारे अपनेपन के बोध को अस्मिता की सामान्यता में रखती हुई ही रूप लेती है। हम शरीर से मनुष्यवत् हों पर भाषा के संस्कार से विहीन हों तो पशु समान ही होंगे, अहं ही होगा हममें, अस्मिता नहीं : हम द्रष्टृत्व, कर्तृत्व, भावयितृत्व से रीते होंगे। हां, हम अपने भीतर विशुद्ध अहं का इंगित पाते भी हैं। हम जब क्रोध में या ऐसे ही किसी आवेग की तीव्रता में आत्म को – 'मैं' को – भूल जाते हैं तो अहं अस्मिताबोध के आत्म–द्वैत से छिटक–सा जाता है : क्रुद्ध पशु की तरह अहं हमारी प्रवृत्ति का अधिष्ठाता मात्र रह जाता है। इसको हम 'आपा भूलना' (अस्मिताबोध से हट जाना) कहते भी हैं। पर आपे में आ कर ही कह पाते हैं। अस्मिता लुप्त ही हो जाये तो हम हम नहीं होंगे।

यहां अनायास प्रतिक्रिया हो सकती है कि कुछ भी कहिये, हम फिर भी अहं के आत्मबोध के भीतर – अस्मिता के भीतर – भी एक अधिक निविड़ निजपन का या अनन्यता का, स्वत्व का, बोध सहज ही करते हैं : अपने सुख–दुख में, इच्छा–द्वेष, वासना में, शरीर–मन की प्रकृति–जात प्रवृत्तियों की सौ दिशाओं में इस बोध को घनीभूत पाते हैं। अपने को स्व–केवली–सा पाते हैं हम : अपनी स्वता को केवल स्व–तृप्ति के लिये, स्व–अर्थ के लिये प्रवृत्त पाते हैं। अब हम इसे हम 'अहं' की संज्ञा न भी दें, यह कह कर कि इस प्रवृत्ति में भी आत्मचेतना जागती रहती है, क्योंकि यह स्वसंवेद में घर करती है, तो भी मैं इनकार नहीं कर सकता कि मैं अपने निंजपन में 'मैं' को, अपने आप को, अन्य से ही नहीं अन्य–सब–कुछ–से, जगत् से ही, अलग पाता हूं : एक अन्य–का–निषेध–करती घोर अनन्यता के सिमटे कोष में कुंचित पाता हूं। साधारण तौर पर इसे ही हम 'अहं' या 'अहं–बोध' कहते भी हैं।

पर भाषा–चेतन मनुष्य में मैं की अन्य–सामान्यता इतनी गहरी, अन्य–घनिष्ठ होती है कि मैं अपने 'मैं' को केवली–मैं नहीं पाता – या कहिये कि मैं अपने 'मैं' को अनन्य स्व पाता हुआ भी – 'सर्व–नाम' पाता हूं। यह पाता हूं कि 'आप' भी, 'वह' भी, 'मैं' के वलय में हैं। 'आप' के लिये 'उसके' लिये मैं 'मैं' का प्रयोग करता ही हूं। 'मैं' की इस सामान्यता के बिना मेरी (मनुष्य के रूप में 'मेरी') जीवन–चर्या ही कल्पनीय नहीं। 'मेरे' व्यवहार में, आठपहर की 'रहनी' में, मेरा 'मैं', मेरी अस्मिता, अन्य अस्मिताओं में एक होती है, नहीं तो व्यवहार ही नहीं बनेगा! मैं अपनी स्वता के कोष–भीतर भी जानता रहता हूं कि मैं अन्य हो सकता था। अन्य को मैं, 'मैं सचमुच क्या हूं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसका प्रतिमान बनाता ही हूं, अन्य होना भी चाहता रहता हूं। हां, मैं अन्य से अपने आप को व्यावृत्त भी करता हूं, नहीं तो 'अन्य' का कोई अर्थ ही नहीं, पर ऐसा मैं अन्य को तत्त्वेन आत्मसामान्य पाता हुआ ही करता हुआ हूं। तभी अन्य को मैं अपनी तरह ही 'अनन्य' पाता हूं। यह जानता रहता हूं कि 'वह' 'मेरी' तरह ही अन्य–सामान्य अनन्य है। और तभी उसकी अनन्यता में मैं पैठ भी सकता हूं : उसकी 'आपबीती' कह सकता हूं, उसे कथा का पात्र बना सकता हूं, उसका अभिनय कर सकता हूं। मैं अन्य–सामान्य हूं, तभी कथा और अभिनय मुझमें सहज हैं। मेरे अस्मिता–गर्भ मनुष्य–भाव में निष्ठ हैं : अन्य की आत्मसामान्यता को सहज ही, स्पष्ट ही – अपने होने में ही – ऊह्य रखते हैं। अन्य को आत्मसम ऊह्य रखते हुए कथा और अभिनय 'मेरे' विषयित्व की ही सामान्यता को ऊह्य रखते हैं; क्योंकि अन्यथा मैं अन्य के अनुभव में उतर ही नहीं सकता, उसे कथा, अभिनय में रूप देना तो क्या, उसकी बात ही नहीं कर सकता! सच यह है कि मैं अन्य की ओर उन्मुख ही अन्य की सामान्यतागर्भ अनन्यता को ऊह्य रखते हुए होता हूं। यह सामान्यता उस प्रत्यङ्मुख विषयित्व की है जो मेरी अस्मिता में घर करता है। इस सामान्यता में मैं अन्य की अस्मिता को आत्मसम पाता हुआ उसे भोक्ता–अनुभोक्ता, ज्ञाता, कर्ता के रूप में पाता हूं। इसी सामान्यता की धरती पर हमारा व्यवहार बनता है।

और इससे भी बड़ी बात यह कि इसी धरती पर अन्य मेरे लिये प्रमाण होता है। मुझे सामने रज्जु में सर्प दिखे, पर अन्य को न दिखे तो मुझे अपने देखने पर संशय होगा। बात केवल इतनी ही नहीं कि मैं जानता हूं 'मेरे' अनन्य, कुंचित–परिच्छिन्न विषयित्व में दोष या भ्रांति हो सकती है; मूल बात यह है कि दृश्य वस्तु केवल मुझे ही दृश्य हो तो वस्तु नहीं होती, और यह बात मेरे बोध के हृदय में निहित रहती है। यह ठीक है कि मैं दावे के साथ कहता हूं – हम सभी कहते हैं – कि 'मेरा' भोक्ता–अनुभोक्ता 'मैं' मेरा विशिष्ट है, और वही 'मेरा मैं' है, पर भूलना न चाहिये कि ऐसा दावा मैं अन्य विषयी के अनुभव की अनन्यता को गवाह बना कर करता हूं।

अस्मिता के आत्मनिष्ठ द्वंद्व के साथ हमारी चेतना में स्व के कुंचन से ऊपर उठी सामान्यता ही नहीं घर करती, इसके साथ ही हम आत्मसाध्य भी हो जाते हैं। यही हमारे कर्तृत्वबोध का मर्म है। आत्मचेतना के साथ हम अपने को पाते हैं तो सिद्ध–प्रदत्त नहीं पाते; साध्य पाते हैं। हमारे कर्तृत्वबोध में ही नहीं, ज्ञातृत्व और भावयितृत्व में भी साध्यता घर करती दिखती है। तभी हमारा प्रमाण–बोध प्रमाण–व्यापार होता है : साध्य होता है, सिद्ध–प्रदत्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं। हमारी अस्मिता आत्म–अन्वेषक होती है : अपने 'सच्चे' स्वरूप को साधने में लगी रहती है। प्रमाण–व्यापार इस 'सत्य'–साधना में भी व्यापृत होता है। यह 'सत्य' – या आत्मसत्य कहिये – हम स्पष्ट ही कई स्तरों पर साधते हैं। यह सहज साधना–व्यापार हमारी प्रत्यङ्मुखता के अगाध में पलता है : हमें उस ओर प्रेरित करता रहता है जहां हम अपने किसी भी 'होने' को अपना स्वरूप नहीं पाते। अपने को सिद्ध कहीं नहीं पाते, साध्य ही पाते हैं। 'मैं क्या हूं?' मेरा स्वरूप, मेरा सत्य क्या है, इस प्रश्न से सदा आक्रांत रहते हैं। मेरा हर प्रदत्त, या प्राप्त, स्व अनात्म ठहरता दिखता है।

(2)

यह बात स्वीकृत सी है कि ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के बिना अस्मिता की बात नहीं का जा सकती। यह भी स्वीकृत है कि इनमें सत्य या अर्थ की अन्वेष्यता, साध्यता, होती है जो चेतना के प्रत्यक–भाव को ऊह्य रखती है : ऐसा प्रत्यक्–भाव जो द्रष्टा ही नहीं, अनुमन्ता, शास्ता–नियोक्ता भी होता है। दूसरे शब्दों में 'साधक' होता है। पर भावियितृत्व पर यहां प्रश्न उठ सकता है। ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में विचार–परंपरा सामान्यता की ही नहीं, साध्यता की भी बात मान भी ले तो भी भावना के आयाम को साध्यता की कोटि में रखने से कतराती है। भावना में हमें कामना की तरह, भोगेच्छा की तरह ही, कोई प्रत्यक्–भाव नहीं दीखता।

पर इसका निषेध नहीं किया जा सकता। हमारे भाव–स्वभाव में – भावियितृत्व में – भी प्रत्यक्–मुखी आत्मचेतना जागती है। न जागती होती तो हममें कला–सृजन या सौन्दर्य–बोध संभव नहीं होता। बल्कि, भावयितृत्व को हम भाव–चित्त मात्र तक सीमित न रख कर एक व्यापकतर रूप में देख सकते हैं : 'अनुभोक्तृत्व' की बात कर सकते हैं। इस व्यापकतर कोटि में भाव, या भावन, के साथ शरीर और इन्द्रिय के भोक्तृत्व को भी समोया जा सकता है। बल्कि, इस कोटि को और भी व्यापक किया जा सकता है, क्योंकि हम अपने होने को ही साध्य पाते हैं, और हम होते अंततः अनुभोक्ता–रूप ही हैं : हमारे ज्ञान, कर्म के आयाम कितने ही स्वतंत्र, स्वप्रतिष्ठ क्यों न हों, इनमें भी जब तक हमारा अनुभोक्ता नहीं जागता, ये हमारे लिये होते नहीं है। हमारा अनुभोक्ता ही इन्हें जीवंत रूप देता है, और इन्हें साध्य रखता है।

फिर भी हमारी विचार–दृष्टि सहज ही हमारे भोक्ता–भावक–अनुभोक्ता स्वरूप को ज्ञातृत्व और कर्तृत्व से अलग रखना चाहती है। विशेषकर भोक्तृत्व को। ज्ञान और कर्म की तरह भोग में हम कोई साध्यता नहीं देख पाते। एक बड़ा कारण यह है कि अपने भोक्ता–भाव को हम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अकर्मक पाते हैं। ज्ञान, कर्म की तरह सकर्मक नहीं। ज्ञान और कर्म में हम यत्नशील होते हैं, साधक होते हैं, हमारी चेतना कुछ करती, स्वचेष्टया व्यापृत होती दिखती है, जबकि भोक्ता भाव में अपने को हम निष्क्रिय–सा पाते हैं : 'अनुभव का ग्राहक' मात्र पाते हैं। भोग हम पर व्यापृत – क्रियारत – होता है, हम निष्क्रिय रहते हैं : भोग में डूबे, अव्यापृत रहते हैं; या कहिये कि हम निष्चेष्ट हो कर, भोग से अभिभूत हो कर, उसे अपने पर सचेष्ट होने देते हैं; हावी होने देते हैं; उसकी तरंगों के आन्दोलन में अपने को बहने देते हैं। इन्द्रिय–भोग में भोग के सकर्मक और भोक्ता के अकर्मक होने की यह प्रतीति जागती ही नहीं, उसका सार कहला सकती है। यह प्रतीति शरीरगत इन्द्रिय–भोग में ही नहीं, मनोरंजन में भी अनुभूत होती ही है जहां अनुभव भावचित्त का होता है। भाव–चित्त में यों भी – मनोरंजन के बाहर भी – हम पाते हैं कि हमारा भाव हमारे अनचाहे भी अपनी अवस्थाओं, दशाओं को लिये हम पर सवार रहता है; हम उसे नहीं चलाते, वह हमें चलाता है (मनोरंजन का रस चित्त की इस उद्वेलता को एक सुखद, अनुकूल व्यवस्था में बटोर–सा देता है)। अचंभा नहीं कि भोग में ही नहीं, अनुभोक्तृत्व में भी हम सहज ही अकर्मकता की बात करते हैं : और स्पष्ट ही हमारा इन्द्रिय–गत भोक्ता–भाव, हमारा भाव–चित्त, यही तो हमारा अनुभोक्ता है, जो हमारा सहज सारथि होता है, हमें चलाता है, हमें व्यापृत रखता है। हम इसे व्यापृत करते नहीं हैं, इसके हाथों व्यापृत होते हैं। ऐसा अनायास ही, स्वभावतः ही होता है; या पुराना उपयुक्त शब्द लीजिये तो 'रागतः' होता है। या कहिये कि यह हमारा ऐसा सिद्ध–प्रदत्त स्वरूप है जिसमें कोई आत्मसाध्यता नहीं है, उलटे वह परसाध्य, परतंत्र हैय तभी ज्ञान और कर्म की तरह हमारी प्रमाण–साधक विवेचक चेतना भी यहां अक्रिय रहती है। हां, हमारा ज्ञातृत्व और कर्तृत्व अनुभोक्तृत्व के बाहर रह कर भाव–चित्त का द्रष्टा, परीक्षक, नियोक्ता हो सकता है, होता ही है, पर अनुभोक्तृत्व अपने आप में, अपने भीतर से इस अर्थ में आत्मचेतन, आत्मनियोजक नहीं जान पड़ता। तभी हम पाते हैं कि हमारा ज्ञातृत्व और कर्तृत्व अनुभोक्तृत्व से जितना अछूता, निःसंग होता है, उतना ही उससे चलता नहीं, उसे चला सकता है, उससे जितना मुक्त, स्वतंत्र हो पाता है, उसे उतने ही निष्कलुष विवेक से चलाने में सक्षम होता है; उसे सारथि के पद से हटा कर उसीका सारथि हो सकने में समर्थ होता है।

अब, ऐसी समझ को हम सहज–मान्य कह भी लें, तो भी यह परीक्षा में ठीक नहीं उतरती है। क्योंकि यह भी देखिये कि भाव भी तो हम साधते ही हैं। और यह साधना भाव की आत्मसाधना को ऊह्य रखती है : हम भाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के भीतर से भाव साधते हैं। बाहर से उसे, जितना भी संभव हो, रोका नियंत्रित किया जा सकता है, साधा नहीं जा सकता है। पर हम साधते हैं : तभी हम भाव में स्तर–भेद की, गहरे–उथले की परख करते हैं। यह विवेक भावानुभव के भीतर से ही होता है, उसके बिना संभव नहीं। कला–बोध, कला–साधना में उभरते हमारे सहृदयत्व में ऐसी परख अनुभूत होती ही है। पर भाव के भीतर से भाव–साधना – या कहिये भाव की आत्मसाध्यता – कला में ही नहीं उभरती दिखती, अनुभव मात्र में देखी जा सकती है। भक्ति इसका एक गंभीरतर प्रमाण है। फिर यह भी देखिये कि मैत्री, सहानुभूति, दया, करुणा जैसे भावों को हम स्पष्ट ही वरेण्य और साध्य मानते हैं; इन्हें साधते हैं। और इनकी साध्यता भाव–चित्त की आत्म–साधना से ही संभव होती है। यह भी सोचिये – अनुभव को साक्षी रख कर सोचिये – कि भाव की संगति, सम्यक्ता, युक्तता, विदग्धता, महत्ता, का तोल भाव की तुला ही कर सकती है, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के लिये तो भाव बाहर से ही ज्ञेय, विवेच्य होता है। पर भोग में आत्मसाध्यता की बात हमें फिर भी अनहोनी लगती है। भोग अकर्मक होता है, उसमें हम निष्प्रयत्न होते हैं (कह सकते हैं कि जानबूझ कर निष्प्रयत्न होते हैं); तो, वहां कुछ साधने की बात ही कैसी!

भोग के इस तत्त्व को ध्यान में रखें तो ऊपर मैंने जो इन्द्रिय–भोग को भाव – या भावन – के साथ एक बृहत्तर अनुभोक्तृत्व में रखना चाहा है, और इस समूचे पसारे को ही साध्य की आख्या दी है, इस बात पर अनायास आपत्ति उठती दिखती है : भाव में साध्यता है, माना, पर स्पष्ट ही हमारे भाव–स्वरूप और इन्द्रिय–भोग–स्वरूप में घोर अंतर है, दोनों को साध्यता जैसी एक ही कोटि में कैसे रखा जा सकता है? भाव को सकर्मक और साधक कह भी लें तो भी इन्द्रिय–भोग के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता। यों भी एक का संबंध सीधा शरीर से है, जहां आत्मचेतना की ही बात नहीं की जा सकती, दूसरे का मन या चित्त से, जहां, चलिये, आत्मचेतना को इस क्षेत्र में भी संभावित मानने की डगर झलकती दिख भी सकती है।

पर सोचिये। यह ठीक है कि भोग (इन्द्रिय–भोग) और भाव का भेद गहरा है, पर थोड़ा भी अपने अनुभव में उतर कर जाँचिये तो इन्द्रिय–भोग में भी सकर्मकता – और आत्मसाध्यता – से इनकार नहीं किया जा सकता। यह सच है कि भोग को आत्मसाध्य कहना अटपटा और असंमंजस लग सकता है, पर ऐसा इसलिये है क्योंकि भोग में हम आत्म नहीं अनात्म देखते हैं (भोगाः न भुक्ता वयमेव भुक्ताः)। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वहां साध्यता नहीं है। बल्कि साध्यता ही नहीं आत्मसाध्यता से भी वहां कतई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इनकार नहीं किया जा सकता। भोग हम साधते ही हैं। भोग के सौ शिल्प साधते हैं। यही नहीं, उसके अनुभव को भी भीतर से साधते हैं, साधते रहते ही हैं, सँवारते हैं, नई दिशा देते हैं, बढ़ाते–फैलाते हैं, और यह आत्मपरिष्कार भोग–शिल्पों को साधने का निकष बनता है। भोग के शिल्प (जैसे पाकविद्या, कामशास्त्र.... और अन्य कई विद्यायें) हमारी भोग–रुचि के परिष्कार्य स्वभाव के अनुषंग रूप में विकसित होते हैं। भोग की साध्यता ही नहीं, आत्मसाध्यता यहां प्रकट है। यह कहना और बात है कि साधना का संबंध सत्य, श्रेय जैसे तुंग तत्त्वों से होता है, या होना चाहिये, जहां हम अपने 'वास्तव' आत्म या स्वरूप का आदर्श देख पाते हैं। यह आदर्श भोग के इस अवर, अवस्तु–आत्म से हमें विच्छिन्न करता, दूर ले जाता दिखता है। हमारी वस्तु–आत्म की साध्यता में साधक नहीं बाधक ही बनता दिखता है। पर यह बात ही और है। यह बात हमारी साध्यता के स्वरूप का विमर्श चाहती है जो हम आगे के संदर्भों में करेंगे। यहां हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हम साध्यता की बात करें तो ज्ञातृत्व और कर्तृत्व की कोटियां पूरी नहीं पड़तीं।

पर भोग और भाव में आत्म–अनात्म जैसा भेद मानें जैसा कि ऊपर उभरता दिखता है, तो फिर यहां यह आपत्ति दोहराई जा सकती है कि भोक्तृत्व और भावयितृत्व दोनों को एक ही अनुभोक्तृत्व जैसी कोटि में रखना कैसे उचित ठहर सकता है? इस पर मैं कहना चाहूंगा कि यह ठीक है कि भोग और भाव में गहरा अंतर है जिसे तात्त्विक अंतर भी कहा जा सकता है, पर फिर भी दोनों को साथ रखने में एक व्यापकतर दृष्टि व्यंजित होती है जिसकी ओर ध्यान रखना चाहिये। आत्मसाध्यत्व की चर्चा साध्य आत्म को संपूर्णता में देखने की मांग करती है : एक ऐसी व्यापक दृष्टि की मांग करती है, जहां हमारे ज्ञान और कर्म को ही नहीं हमारे समूचे होने को एक सूत्र में पिरोया देखा जा सके। यों देखें तो, हमारे ज्ञान और कर्म ही नहीं, हम सारे के सारे – हमारा सारा होना ही, जो अनुभोक्तृत्व में प्रकट होता है – चाहे एकांश ही प्रकट होता हो – यह समूचा ही आत्मसाध्यता के अंतर्गत आता है : हमारा भावन भी, और हमारा भोक्तृत्व भी। अपनी आत्मसाध्यता में हम अपने समूचे होने के ही भीतर स्वोत्तरण की एषणा पालते हैं। जिसे भोग कहते हैं, उसमें भी हम उत्तुंगता साधते हैं : भक्ति में, और अन्य आध्यात्मिक साधनाओं में हम स्पर्श, रूप, गंध, घ्राण, श्रुति आदि के ऊर्ध्वतर, 'दिव्य' हो पाने की साधना करते ही हैं। काम, जिसे भोग का सार कहा जा सकता है, उसमें दिव्य प्रेम का रूपक ही नहीं देखा गया है, उसे दिव्य–रति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma; Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के अनुभव की गहन अभिव्यक्ति के जीवंत प्रतीक के रूप में संवेदित भी किया गया है। दिव्य–रति की छाया के रूप में पाया गया है उसे। यों भी काम प्रेम का अंग होता है तो उसे कोरी शीरीरिक भोग–सर्वस्वता में अपचित नहीं कर दिया जा सकता; और प्रेम की साध्यता तो अनस्वीकार्य है। सच यह है कि हमारी साध्यता हमारे बोध के अनुभव में उपलब्ध ही नहीं, अनुपलब्ध को भी समोती हुई, सर्वस्व को साध्य बनाना चाहती है : चेतना के पूरे अनुभूत–अननुभूत (चेतन, अचेतन–अवचेतन और तदूर्ध्व) पसारे को ही हमारी साध्यता की एषणा 'वह' पाती है जो इसका वस्तु–स्वरूप नहीं है। सत्य नहीं है। तभी हममें अध्यात्म–बोध उभरता है। या यों कहना चाहिये कि अध्यात्म–बोध और अध्यात्म–साधना हमारी संपूर्ण प्रदत्त चेतना की साध्यता का जीवंत लक्षण है। हममें अध्यात्म–बोध है ही इसलिये क्योंकि हम अपने पूरे होने को – सारी की सारी सत्ता को – ही साध्य पाते हैं।

अपनी ऊर्ध्वमुखी एषणा को हम स्वातन्त्र्य की एषणा भी कह सकते हैं। जो प्रदत्त है, सिद्ध है, उसमें परायेपन का, पारतंत्र्य का, बोध हममें अस्मिताबोध के साथ ही रूप लेता प्रकट होता है। अस्मिता के आत्मद्वंद्व में चेतना का द्वित्व ही नहीं रूप लेता, चेतना में अवर और पर का स्तर भी सामने उभर आता है। चेतना ही जैसे अपने प्रति, अपने स्वरूप के प्रति जागरूक हो उठती है : उसकी प्रत्यङ्मुख यात्रा अवर से पर की ओर जाती हुई, अपने स्वरूप की ओर बढ़ने के क्रम का रूप ले लेती है। विषयित्व का विषय से तटस्थ, स्वतंत्र, हो पाना, उसमें अस्मिता का, ज्ञातृत्व–कर्तृत्व–अनुभोक्तृत्व का घर कर लेना, और इनके साथ ही 'मेरे' सीमित विषयित्व में अपने कुंचन से ऊपर उठने की चाह का, संभावना का, उदय, यही द्योतित करता दिखता है। मुझमें (मनुष्य में) आत्मचेतना के साथ ही आत्मसाध्यता का स्फुट इंगित, स्फुट स्पंद उभरता है। हां, 'मैं' का सीमित बोध बना रहता है। कह सकते हैं कि अस्मिताबोध के सभी स्तरों पर बना रहता है। अपने को विषय बनाता विषयी, भोक्ता–अनुभोक्ता हो या ज्ञाता हो या कर्ता हो, उसका मैं–बोध बना रहता है। पर उसका यह मैं बनता ही अपने से अलग हो कर, अपने से ऊपर उठ कर है। उसे हम मैं–सामान्य पाते हुए मैं पाते हैं। और ऐसा मैं जो अपने को सिद्ध नहीं, साध्य पाता है। अस्मिता का आत्मचेतन द्वंद्व एक ओर अस्मिता को प्रतिष्ठ करता है तो दूसरी ओर उससे मुक्त भी होता चलता है, मानो उसे विसर्जित करने को तत्पर रहता हो। तभी, चेतना–सामान्य की ओर – या कहिये, चित् की ओर – बढ़ता दिखता है। अपने प्रत्यक् स्वरूप की ओर मुँह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

किये, अपने–को–छोड़ता–त्यागता आत्म–विसर्जन ही मानो मैं–बोध का बीज ही होता है : इस आत्म–द्वंद्व के भीतर से, अवर–पर के आत्म–विरोध में पिरोया रहता है 'मैं' का बोध, मानो इस द्वंद्व के गर्भ में ही जन्म लेता है। अस्मिता के विषयी का विषय से तटस्थ होकर विषय को अलग खड़े हो कर देख पाना, इस जिज्ञासा से अनुप्राणित हो पाना कि 'यह क्या है? –ज्ञातृत्व' का मर्म यही है। पर इसी के साथ हम श्रेयानुप्राणित भी हो उठते हैं : क्या है के साथ ही 'क्या होना चाहिये' यह संकल्पबोध हम में घर कर लेता है। श्रेय–निष्ठ कल्पना में जागते आदर्श, उनके प्रतिमानों की खोज, उन्हें रूप देने की चेष्टा, कर्म के कृतित्व से सिद्ध–प्रदत्त विषय को (चाहे विषय अंतः–स्थित हो या बाह्य) औचित्य–बोध के साथ अन्यथा, श्रेयानुकूल साधने की एषणा, सही पंथ की खोज : इस व्यापक व्यापार में हम 'मैं' को अपने से हटता हुआ ही मैं नहीं पाते, अपने से उठने की चाह रखता हुआ 'मैं' पाते हैं। यही बात हमें अन्य जीवों से अलग करती है। थोड़ा भी आत्म–मनन करें तो यह संकेत स्पष्ट है। मनु ने जो मनुष्य को धर्म से परिभाषित किया है (धर्मो हि तेषां – मनुष्याणां – अधिको विशेषः) उसके पीछे इसी सत्य की स्वीकृति है : श्रेयबोध, और तन्निहित साध्यता का बोध।

पर श्रेयबोध को अभी एक किनारे भी रख दें तो भी दिखता ही है कि आत्मबोध में बसता मेरा विषयित्व प्रत्यङ्मुख हो कर ही, विषय–मात्र से – स्व, पर, इतर, इदम् – इनकी परतंत्रता से निकल कर ही, अस्मिता का रूप लेता है। यह तो मैं के – अस्मिता के – पहले सोपान पर ही उभर आता है कि 'मेरा विषयित्व' स्वरूपेण ही मेरे विशिष्ट अनन्य 'स्व' के घेर में नहीं समाता। स्व से ऊपर रहता हुआ ही स्व का रूप लेता है। वह स्फुट ही चेतना की सामान्यता – या कहें 'चित्' – को ऊह्य रखता हैय चिदुन्मुखता – या कहिये सामान्य विषयित्व की उन्मुखता – में ही रूप लेता है।

पर फिर यहां यह भी कहा जा सकता है कि आत्मोर्ध्व विषयी कितना ही प्रत्यङ्मुख हो, इसे हम प्रत्यङ्मुखता के हर सोपान पर पीछे ही मुड़ा पाते हैं : विषयमुख पाते हैं। यह स्व की ओर, सीमित विषय–रूप 'मैं' की ओर ही नहीं, मैं के सुख–दुख–इच्छा–द्वेष–विचार–एषणा–साधना–मय अंतः–क्षेत्र से सर्वथा बाहर बाह्य–जगत् की ओर भी मुड़ा रहता है। इन्हीं में अपने को पाता है। हम अपने आप को, अपने मैं को – या कहिये स्व को, बल्कि अपनी अस्मिता को ही – बाह्य जगत् से अनुविद्ध, अनुबाध्य हो कर ही रूप लेता पाते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर यह बात अधूरी है। यह ठीक है, प्रकट ही है कि बाह्य जगत् का अनुजीवी पाते हैं हम अपने आप को, पर भूलना न चाहिये कि जिस बाह्य जगत् में हम रहते हैं, वह हमारी निर्मिति भी होता है। अस्मिता के साथ हम बाह्य के साथ अंतः का एक गभीर परस्पर–भाव उभरता पाते हैं। तभी बाह्यजगत् ही हमको रूप नहीं देता, हम भी उसे रूप देते हैं। हम प्रकृति में नहीं आत्म–निर्मित, आत्म–साध्य संस्कृति में रहते हैं, जो प्रकृति को हमारा दिया हुआ रूप होता है।

पर फिर यह भी कह सकते हैं कि संस्कृति भी हम से – या कहिये 'मुझसे' – बाहर रहती हुई हमें (मुझे) साधती चलती है। उभरता यह दिखता है कि हमारा (मेरा) विषयित्व चाहे स्वरूपेण प्रत्यङ्मुख ही क्यों न होता हो, पर निगूढ–निबिड़ भाव से पराक्–प्रसक्त रहता हुआ प्रत्यङ्मुख होता है! लगता है कि वह अपने पीछे–छोड़े–हुए 'मैं' में ही अपने को पाता है, उसीमें व्यापृत रहता है। और यह मैं – या अवर या पराक् मैं कहिये – वह (बाह्य) विषयों से अभिन्न–सा होता है, उन्हीं में रूप लेता है। स्वरूपतः, तत्त्वतः, उन–जैसा ही होता है – अंतर केवल अंतः–बाह्य का होता है। हां, मेरा ऊर्ध्वमुख विषयित्व मेरी इस अस्मिता का द्रष्टा और विमर्शकर्ता ही नहीं, नेता, नियोक्ता का रूप भी लेता उभरता है, पर उसकी प्रत्यङ्मुखता उसके पराक्–भाव से अनुविद्ध रहती है। वह कहीं अपने स्वतंत्र क्षितिज की ओर बढ़ता भी हो तो भी मुँह पीछे की ओर ही रखता है। या यों कहिये कि वह विषय–व्यापृत ही नहीं, विषय–दिग्ध रहता है।

लेकिन यहां एक और आनुषंगिक बात पर भी ध्यान दें। हमने अभी ऊपर 'अंतः–बाह्य' के भेद की बात की। यह भेद गहरा है – चाहे अंतः–बाह्य का संबंध और पारस्पर्य भी स्पष्ट हो। हम अपनी ओर देखें, अपने अंतः का आकलन करें, तो उसे बाह्य जगत् से सर्वथा भिन्न ही नहीं पाते हैं, भिन्न कोटि का पाते हैं।

तो, कुछ अंतः की ओर आँख करें। एकदम से प्रश्न उठता दिखता है कि क्या हम अपने अंतः को सचमुच अपने बाह्य के साथ विषयत्व की एक ही कोटि में रख भी सकते हैं? दोनों में क्या एक ही तत्त्व का सामान्याधिकरण्य पाते हैं हम? यह ठीक है कि अंतः भी हमारे लिये विषय होता है, पर हम उसे विषयी भी पाते हैंय उसे विषय मात्र नहीं, विषय–विषयी कहना चाहिये। फिर, आधारगत बात यह है कि बाह्य विषय हमारे लिये इन्द्रिय–प्रदत्त होते हैं, पर अंतः इन्द्रिय के व्यवधान के बिना अवगत होता है, अव्यवहित साक्षात् का विषय होता है। और हम उसे पाते ही नहीं, उसमें होते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं (चाहे यह होना कितना की बाह्य–प्ररोचित क्यों न होता हो, होता अबाह्य है) : यह ठीक है कि हम अंतः को बाह्य की तरह ही प्रदत्त पाते हैं, पर उसे सिद्ध नहीं साध्य पाते हैं। अंतः में अभाव, न्यूनता, इनका तो अंतः के साथ ही उदय हो जाता है। फिर अस्मिता के साथ ही यह प्रश्न हमारे अंतः के मूल में ही आ बसता है कि हम सचमुच क्या हैं? और इसी के साथ जुड़ा–बँधा यह प्रश्न कि हमें होना क्या चाहिये? तभी हम आदर्श पालते हैं। हमारा 'होना', हमारा 'होना–चाहिये' से बिँधा–गुँथा रहता है। हमारा सिद्ध–स्वरूप ही ऐसा है जो अपने होने में ही अपने 'वास्तव' स्वरूप की साध्यता पालता हुआ होता है – उसकी प्राप्ति के लिये उन्मुख रहता है। इसके विपरीत, इन्द्रियप्रदत्त विषयों को हम सिद्ध ही पाते हैं। या स्व–प्रतिष्ठ कहिये। इन्हें हम एक स्वतंत्र, स्वस्थित – या स्व–योजना–स्थित बाह्य जगत् में पाते, रखते हैं, चाहे अपनी तरह, अपने विभिन्न उद्देश्यों के लिये इन्हें अन्यथा भी साधने में अभिरत रहते हों। लक्षणीय यह है कि स्वभाव से हम बाह्य को ही 'विषय' के रूप में देखते हैं, अंतः हमारे लिये विषयित्व से, उसके पुट से, संकेत से, साध्यता से, सूना नहीं होता।

लेकिन यहां एक और बात पर अवधान दें। हमने देखा कि हमारा अंतः विषयी होता हुआ साथ ही साथ विषय भी होता है। अपने आप को यों विषयी और विषय रूप में – या कहिये, विषयी–विषय के रूप में – प्राप्त करना हमारी आत्मचेतना का ही लक्षण उभरता है।

पर इसी के साथ, हमारे आत्मचेतन विषयित्व की प्रत्यङ्मुखता के साथ, हमारा विषय–संसार, या कहिये हमारा विषय–संभार – ही एक नया क्षितिज पा लेता है। हमारे विषयों का वलय अब बाह्य देशकाल–गत इन्द्रिय विषयों तक सीमित नहीं रहता। आत्मचेतना के साथ ही विषयत्व के आयाम में ही अपूर्व विस्तार उद्भूत हो जाता है। विषयी के विषयबोध को ही अपूर्व समृद्धि प्रदान करती है आत्मचेतना। नवोन्मेष के साथ नये अदृष्ट दिगंत उजागर करती है। ऐसे अभिनव विषय आगे आते हैं जो इन्द्रिय–प्रदत्त न होते हुए भी अपनी तरह से स्वतंत्र, स्व–स्थित, और स्व–योजना–गुंफित होते हैं। अनात्मचेतन, अप्रत्यङ्मुख पशु–चेतना के लिये ये विषयों का यह क्षितिज नितांत अंध ही रहता है। हमारे अपूर्व विचित्र अ–बाह्य–सीमित अंतः के बिना, हमारी स्वतंत्र विषयिता के बिना, इनकी कल्पना नहीं की जा सकती। इन अपूर्व विषयों को बुद्धि या विचार–चेतना के विषय कह सकते हैं। दर्शन, जो हम यहां करने की चेष्टा कर रहे हैं, वह ऐसा ही विषय है। पर दर्शन ही नहीं (जिसे विषय–मात्र पर विचार–रूपी विषयी भी कह सकते हैं), विषयों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक पूरा संभार, एक पूरा दिगन्त आ खुलता है जिसमें विषयों का और भी विस्तार संभव दिखता है, जो हमारे विशिष्ट विषयित्व का अपेक्षी होता है। हर विषय अपनी एक अनंत भूमा पालता दिखता है : अपना अलग निस्सीम प्रसारमय, संभावनामय संसार। इसे हम अपने ज्ञातृत्व का विस्तार भी कह सकते हैं; उसकी प्रतिष्ठा–भूमि का निर्माण भी। इस अर्थ में कि हमारा विषयों को ज्ञान – बाह्य हों या अतः विषय, दोनों का स्वतंत्र विषय–रूपेण ज्ञान – इन बुद्धि–विषयों की अपेक्षा रखता है। गणित, तर्क, विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान.... फिर, कला – बल्कि, कलाओं का संभार – ये ज्ञातृत्व के ऐसे ही विषय हैं। विषयों का पूरा क्षेत्र है जिसे विषय–विश्वों का क्षेत्र भी कह सकते हैं। 'ज्ञातृत्व के विषय' इसलिये कि गणित, दर्शन, कला...., इनमें विषयत्व की स्वतंत्रता, स्व–स्थित स्व–योजना–रूपता इन्द्रिय–विषयों से कम नहीं होती। सामान्यता भी इन 'विषयों' में वैसी ही होती है जैसी इन्द्रिय–विषयों में। इनका प्रमाणापेक्षी होना इसका प्रमाण है। इन अनिन्द्रिय 'विषयों' के अपने विषयित्व की भी बात की जा सकती है, जो प्रश्न, संशय, प्रमाण, विषय–स्वरूप की जिज्ञासा, इस सामान्यता में रहते हुए, संधान की अपनी दिशा लेता है। सामान्यता के साथ यहां संभावनामयता भी स्फुट होती है, जो इन विषयों की बहुरूपता में, इस बहुरूपता के भिन्न व्यूहों में, परंपरा–भेदों में, विवर्तित–होते ह्रास–विकास के इतिहास में परिलक्षित होती है। इस संभावनामयता का मर्म, या कहिये बीज, युक्ति और कल्पना के उस मिथुन में है जो हममें अस्मिता के साथ, हमारे प्रामाण्य–बोध के साथ, ही जन्म लेता है। यह बीज सिसृक्षा का भी बीज है। यों इन विषयों को 'सृष्ट' भी कहा जा सकता है – सृजन का वैविध्य, परस्पर संवाद–विवाद मानो इनकें होने की नींव में ही घर करता है। (कहा जा सकता है कि सृजन केवल कलाओं में होता है, जिसका ज्ञातृत्व और उसके यथातथ सत्य–संधान के साथ संबंध नहीं; पर हम आगे कला के ज्ञातृत्व–संबंध की भी चर्चा करेंगे)। तभी हम यह भी पाते हैं कि इन विषयों में 'सत्य' की संधेयता के साथ साध्यता भी स्फुट रहती है, जब कि इन्द्रिय–विषय के सत्य को हम सिद्ध मानते हैं।

इन 'विषयों' को, जिन्हें हमने बुद्धि–विषय कहा, इन्हें 'विषय' कहने में संकोच इसलिये होता है कि विषय–बोध का मूलाधार हम इन्द्रिय को ही समझते हैं, और यह समझते हैं कि इन्द्रिय ही हमें ऐसे विषय का बोध कराती है जो अपने आप में विषयत्व रखता है : स्वस्थित, स्वतंत्र होता है, जिसमें ऐसा स्वयंभू विषयत्व होता है जो विषयित्व का मुखापेक्षी, नहीं होता,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषयित्व–जीवी नहीं होता जैसा कि दर्शन, कला, विज्ञान आदि होते हैं। पर बुद्धि–विषय भी स्पष्ट ही स्वतंत्र विषयत्व में पलते हैं। इन्हें हम किसी अर्थ में पुरुषतंत्र कहना भी चाहें, तो भी ये होते वस्तुतंत्र ही हैं; बल्कि, विषय मात्र का वस्तु–रूपेण आकलन, निरूपण, विषयों के ज्ञान की मीमांसा, ज्ञान–तंत्रों की निर्मिति, इनके बिना संभव नहीं। विषय होते हुए भी ये विषय हमारी विषय–जिज्ञासा में ओत–प्रोत रहते हैं। इनकी 'पुरुषतंत्रता' उस विषयित्व की अपेक्षा रखती है जो तटस्थ, सामान्य होता है, जिस विषयित्व के बिना विषय के वस्तुतंत्र होने की बात ही नहीं की जा सकती। इन्द्रिय–विषय और विशेष कर उसकी वस्तुता भी इस अर्थ में पुरुषतंत्र ही होती है, हमारी बुद्धि–ग्राह्यता की अपेक्षा रखती है, और ये विषय इस ग्राह्यता के अंग होते हैं।

सच यह है कि जिसे हम वस्तु कहते हैं, चाहे इन्द्रिय–लब्ध हो या बुद्धि–लब्ध, वह विषय और विषयी के परस्पर भाव का फल होती है। उसके 'अपने आप में होने' का अर्थ उसकी सामान्यता होता है। पर यह सामान्यता सिसृक्षामयी भी होती है। बुद्धि–विषयों में हम यह बात मान भी लेते हैं, तो भी इन्द्रिय–लब्ध जगत् के 'होने' को हम विषय–विषयि–भाव से स्वतंत्र, स्वयंभू रखने की ओर झुकते हैं, सहज ही झुकते हैं; इसलिये भी कि इन्द्रिय–लब्ध जगत् मनुष्य का ही नहीं प्राणिमात्र का जगत् प्रतीत होता है। पर इन्द्रिय–लब्ध भी का स्वरूप भी हमारे लिये सिद्ध नहीं, साध्य ही होता है।

तो, अब इन्द्रियों पर ही आइये जिन्हें हम विषय के स्वतंत्र विषयत्व का और तत्–विषय–ज्ञान का चरम; आधारगत साधन और प्रमाण – निकष – मानते हैं।

यहां 'ज्ञान' को एक बार अलग रखें और पहले 'भोग' पर आयें। सोचिये : भोग का भी आधार इन्द्रियां होती हैं। दर्शन, स्पर्श, श्रवण, घ्राण, रसन करती वही इन्द्रियां होती हैं जिन्हें हम ज्ञान का साधन : बल्कि प्रमा–मात्र का साधन : समझते हैं। पर इन्द्रियों के भोग–विषयों में हम कोई स्वस्थित : स्वयंभू, स्वप्रतिष्ठ – विषयत्व नहीं पाते, उसे विषयि–सीमित मानते हुए विषयित्व के ही अंग या आक्षेप के रूप में देखते हैं; उसमें ऐसा विषयित्व पाते हैं जो वस्तु–ग्राहक सामान्यता से नहीं, उलटे मेरे अत्यंत निजी स्व से बद्ध है, बद्ध ही नहीं, तद्गत है, मेरे स्व तक सीमित है, और यों हम चाहें तो उसे निःसंकोच 'सर्वथा पुरुषतंत्र' कह दे सकते हैं। इन्द्रिय–भोग में भी विषय–विषयि–भाव तो होता है पर हम उसमें वह ग्राहकता नहीं पाते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जिसमें वस्तु–तंत्र होने की क्षमता हो। या यों कहिये कि इन्द्रिय–भोग–जन्य बोध में हम विषयत्व की वह स्वतंत्रता, अन्य–सामान्यता नहीं पाते जो ज्ञातृत्व के विषय–बोध की वस्तु–तंत्रता का आधार होती है; उसकी प्रामाणिकता का सूचक, निकष होती है। भोग में बात 'जानने' की होती ही नहीं, रुचि की, रंजन की होती है, जिसे हम विषयी की प्रतीति–सम्पदा कह भी लें तो भी उसमें वस्तु के अपने होने के सत्य का, प्रामाणिकता का संकेत नहीं पाते। उसमें सामान्यता ही नहीं पाते। क्योंकि 'मेरा' भोगेन्द्रिय–दत्त भोग मेरे विशिष्ट शरीर में रहता हुआ मेरे अनन्य शरीरी के विविक्त व्यष्टित्व की, उसकी अन्य–व्यावृत्ति की, या कहिये, मेरी अस्मिता के केवली 'मैं' की निजस्वता का बड़ा गहरा संकेत देता है मुझे; मेरी विविक्त अनन्यता का मूल–स्तंभ तक कहा जा सकता है उसे! हमारा अनुभव यही गवाही देता ही है। भोग में हम भोग–केवली होते हैं। हमारी अनन्यता सप्राण हो उठती प्रतीत होती है।

पर आपात प्रतीति जो भी हो, ऊपर हम देख आये हैं कि भोग में भी हमारी अनन्यता सामान्यता–दिग्ध रहती ही है, अपनी तरह की अन्–अनन्यता में बसी होती है। भोगास्वाद की अनन्यता में रहता हुआ भी मैं भोग की सामान्यता के आयाम की ओर खुला रहता हूं; उससे अवगत रहता हूं। इस अवगति से इनकार नहीं कर सकता। कुछ स्वाद लगे तो आप से कहता ही हूं, इसे चखिये।

अब भोगेन्द्रिय को, भोग को, ध्यान में रखते हुए ज्ञानेन्द्रिय और उसके 'ज्ञान' पर आइये। यह देखिये कि वही इन्द्रिय जो भोगेन्द्रिय है वही ज्ञानेन्द्रिय भी है : दृष्टि–सुख, स्पर्श–पुलक, उन्हीं इन्द्रियों का काम है, जो बाह्य वस्तु के होने का और 'ठोस' होने का प्रमाण होती हैं (कहना न होगा कि हमारे लिये वस्तु का प्रमाण प्रधानतः दृष्टि और गौणतः स्पर्श, ये दो इन्द्रियां होती हैं)। फिर, यह देखिये कि भोगेन्द्रिय की तरह ही ज्ञानेन्द्रिय भी मेरे अन्य–विविक्त शरीर में ही निष्ठ रहती है : और शरीर की अनन्यता को मेरी विषयिगत अनन्यता का बीज और मूलाधार तक कहा जा सकता है। पर उसी इन्द्रिय को जब मैं ज्ञान का आधार पाता हूं तो उसे सहज ही अन्–अनन्य, सामान्य बोध का साधन पाता हूं। इन्द्रिय–लब्ध विषय–बोध को मैं स्वरूपेण ही सामान्य समझता हूं, तभी उसे 'ज्ञान' की आख्या देता हूं। पर यहां अपने आप से यह पूछिये : अगर इन्द्रिय वही है तो ऐसा महत्, बल्कि कहिये तात्त्विक, अंतर क्यों? इन्द्रिय–भोग में ही नहीं, इन्द्रिय–ज्ञान में भी बोध की स्व–सीमित अनन्यता बनी रहनी चाहिये! भोग और ज्ञान अगर उन्हीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन्द्रियों के दो पक्ष हैं तो भोग और ज्ञान में अन्–अनन्य सामान्य और स्वगत अनन्य का कोटि–भेद कैसा? अभेद ही युक्त ठहरता दीखता है : इन्द्रिय वही है तो दोनों की उपलब्धि में भी समानता होनी चाहिये! मेरा शरीर अगर मेरी अनन्यता का, अन्य–व्यावृत्त विशिष्टता का आधार है; (और अगर इन्द्रिय–ज्ञान में मन को भी इन्द्रिय कहते हुए उसे गिनना चाहें) तो मेरा मन भी मेरे ही शरीर का शरीरी होने के कारण अन्य–विविक्त ही है। तो फिर इन्द्रिय–ज्ञान भी इन्द्रिय–भोग की तरह नितांत मेरा निजस्व ही तो ठहरता है! और फिर, कहना न होगा कि ज्ञान का बोध, उसका अनुभव, उतना ही अन्य–विविक्त होता है जितना भोग का अनुभव। पर ज्ञान में हम स्वभावेन सामान्यता का बोध करते हैं। बल्कि, हमें लगे कि 'यह ज्ञानेन्द्रिय–बोध नितांत मेरा है, अन्य को नहीं हो रहा' तो इसे मैं ज्ञान का बोध ही नहीं समझूंगा – उसको अनन्य समझता हुआ उसे ज्ञान में बाधक पाऊँगा। मेरा इन्द्रिय–ज्ञान अन्य–समंजस न हो – दूसरे शब्दों में सामान्य न हो – तो मेरे लिये ज्ञान नहीं होगा। मुझे उस पर अनायास संशय होगा। ज्ञानेन्द्रिय–बोध की सामान्यता हम अपने बोध–संस्कार में बहुत गहरे निगूढ़ रख कर चलते हैं, ऐसी अगाध आस्था के साथ ऊह्य रख कर चलते हैं कि इसकी स्वयंभू सामान्यता को प्रश्न के घेर में लाना चेष्टा–साध्य होता है। दर्शन की विरल घड़ियों में ही ऐसा कभी किया जाता है। भोग के साथ यह बात नहीं है।

यहां साफ ही एक अनहोना वैषम्य सामने खड़ा दिखता है : जिन इन्द्रियों के भोग को हम निपट निजी समझते हैं, उन्हीं के ज्ञान को ऐसा नहीं समझते! जिसे मैं ज्ञानेन्द्रिय–बोध समझता हूं उसे मुझ–तक–सीमित समझूं तो भ्रम समझूंगा। पर भोग अगर भ्रम भी हो तो रहता भोग ही है – वहां भ्रम–अभ्रम की कोटि और तरह से बनती है (आत्म–आनात्म की कोटि के रूप में, जैसा हम ऊपर इंगित कर आये हैं) पर यह बात यहां अवांतर है। प्रासंगिक यह है कि अगर विषयी के रूप में मुझे लगे कि मेरा इन्द्रिय–बोध मेरा स्वगत बोध है, मेरे सामान्य विषयित्व में प्रतिष्ठित नहीं है तो उसे ज्ञान समझूंगा ही नहीं। मेरे ज्ञान के नेपथ्य में खड़े, मेरे ऊह में – युक्ति–बोध में – यह प्रतिक्रिया सहज जागेगी कि जिस 'कुछ' का मुझे विषय–रूपेण बोध हो रहा है उसमें स्वतंत्र विषयत्व नहीं है, वह अवस्तु है। प्रतीति मात्र है, बाह्य देश–काल में स्थित नहीं है, अप्रमाणिक है क्योंकि बोध की सामान्यता में नहीं जाग रही है : भ्रमवत्, स्वप्नवत् या केशोण्ड्रवत् मेरे अनन्य विषयित्व का निजी विषय है, स्वस्थित कुछ नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साधारण प्रयोग में हम ऐसे ही निजी, अनन्य विषयित्व के बोध को 'विषयी–परक (सब्जेक्टिव) कहने के आदी हैं, प्रतीति–मात्र समझते हैं उसे, और उसे अवस्तुतंत्र मानते हुए ज्ञान की कोटि से बाहर ही रखना चाहते हैं। विषय वहां भासित मात्र होता है, उसमें स्वतंत्र 'अपने आप में होने' का तत्त्व नहीं होता। वहां (भासित–होता) विषय प्रतीति मात्र होता है, वस्तु नहीं होता। और अगर यों मेरा बोध मात्र होता है, तो उसे मेरे विषयी की – या मन की कहिये – मिथ्या–कल्पना भी कहा जा सकता है।

पर विषयि–परकता (या 'सब्जेक्टिव') की धारणा पर आइये। हम विषय–विषयि–भाव की बात कर रहे हैं तो इस बात पर सोचने की आवश्यकता प्रकट है। पहले ही देखने की बात यहां यह है कि विषयी–परक तो विषय मात्र होता है, ज्ञान का विषय हो या भोग का। विषयिता के बिना विषय की बात ही कैसी? ज्ञान में प्रश्न यह रहता है कि विषय वस्तु है या केवल बोध मात्र है, प्रतीति है, अपने आप में स्वस्थित, स्वप्रतिष्ठ कुछ नहीं। तो, ज्ञान के वस्तु–ज्ञान होने में प्रश्न यह नहीं हो सकता है कि ज्ञान में विषयिता थी या नहीं! प्रश्न विषयिता की उस सामान्यता का, या कहिये वस्तु–उन्मुख उस प्रामाणिकता का ही हो सकता है, जो तत् विषय का ग्रहण कर रही है। विषयिता के अभाव का या निषेध का प्रश्न नहीं हो सकता। भोग हो या ज्ञान, विषय–विषयि–भाव दोनों में होता है, और सामान्य ही होता है (ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व सामान्य वृत्तियां हैं), अंतर विषय–विषयि–भाव के स्वरूप का, या कहिये उसकी उन्मुखता का है। भोग में हम विषय के वस्तु होने की प्रमा नहीं ढूंढते, चाहे अपनी तरह के स्थूल–सूक्ष्म का, ऊँच–नीच का, रसन या आस्वाद के खरेपन का विवेक करते हों – और यों प्रामाणिकता का बोध यहां भी रहता ही है। पर यहां उन्मुखता विषयी की ओर होती है। जबकि ज्ञान विषय की ओर उन्मुख होता है। सामान्यता दोनों में होती है। और यह सामान्यता मेरी विषयिता का मेरी अनन्यता से, निजता से, सीमित स्वगत विषयिता से, निःसंग, स्वतंत्र होने में है। सामान्य विषयिता तटस्थ होती है। आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता में रूप लेती है, तभी स्वतंत्र होती है, और यही उसकी सामान्यता का आधार है। भोग में विषय निमित्त होता है, उसका स्वरूप क्या, यह प्रश्न अवांतर होता है, उठे भी तो भोग को दृष्टि में रखता हुआ उठता है, विषयी के अनुभव के उच्चावच को तोलने की चाह रखता है, विषय–तत्त्व की जिज्ञासा से प्रेरित नहीं होता। विषय स्वरूपेण क्या है, उसका 'तत्' क्या है, यह संधान हम ज्ञान–वृत्ति की प्रेरणा से करते हैं – हां, भोग–साधना में भी यह वृत्ति सहायक हो सकती है, होती ही है। पर गौण ही रहती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हम ज्ञान की वस्तु–परकता को वस्तुतंत्रता भी कह सकते हैं। पर वस्तुतंत्रता का यहां यह अर्थ बनता है ज्ञान में विषयी विषय को अपने से बाहर, स्वस्थित रखता हुआ विषय को विषय के अपने स्वरूप में जानना चाहता है (भोग का स्वरूप क्या? इसे हम ज्ञान का विषय बनायें तो उसके साथ भी ऐसा ही करेंगे)। पर वस्तुतंत्रता के बारे में एक विचित्र सी मान्यता भी है, जो ज्ञातृत्व को निष्क्रिय रखने की बढ़ती दिखती है। यह मान्यता इन्द्रियज्ञान को वस्तुतंत्रता का स्वप्रकट–सा दृष्टांत रखना चाहती है। कहती है कि इन्द्रिय जब वस्तु के सन्निकर्ष में आती है तो वस्तु के सन्निकर्ष मात्र से ही उसे स्वतः जान लेती है। इन्द्रिय वस्तु को बोध के पटल पर अनायास, अविकृत आँक देती है; उसके स्वरूप को ज्ञान में संचारित कर देती है। यहां वस्तु सक्रिय होती है, ज्ञान (बोध) ग्रहण मात्र करता है। यही ज्ञान की 'वस्तुतंत्रता' है : क्योंकि ज्ञान यहां कुछ नहीं करता, वस्तु ही मानो चल कर ज्ञान में आ समाती है। इसके लिये जिज्ञासा या संधान जैसे किसी ज्ञातृकृत व्यापार की आवश्यकता नहीं होती; ऐसा हो तो ज्ञान वस्तुतंत्र नहीं होगा, पुरुषतंत्र हो जायेगा। कई विचारक ऐसा कहते ही रहे हैं (चाहें तो यहां शंकर को ही ले लीजिये)। ज्ञान यहां प्रतिबिंबवत् होता है। विषय – वस्तु – बोध पर स्वतः अपना बिंब आँक देता है। बोध, या 'ज्ञान', इस व्यापार में ग्राहक मात्र होता हुआ निष्चेष्ट रहता है।

पर यह बात ठीक नहीं है। ज्ञातृत्व दर्पणवत् प्रयत्नशून्य नहीं होता। हो तो प्रमाण–व्यापार का कोई अर्थ नहीं। फिर हम देख आये हैं कि विषय इन्द्रिय–विषय ही नहीं होते। बुद्धि–विषय भी विषय ही होते हैं, और वहां भी प्रमाण–व्यापार काम करता है। अब चाहें तो कहने को बुद्धि–विषय के ज्ञान को भी वस्तुतंत्र की संज्ञा दे सकते हैं, इस अर्थ में कि बुद्धि–विषय भी मनुष्य की चेतना पर स्वतः प्रकट होता है : जैसे संख्या या स्वर या तर्क (यहां भाषा को तो सहज गिन ही सकते हैं)। पर क्या गणित के या संगीत के या तर्क के – या भाषा के – ज्ञान को हम 'वस्तुतंत्र' की संज्ञा देना भी चाहेंगे! यहां बुद्धि का व्यापृत होना भी सहज प्रकट रहता है। जिज्ञासा का संधान यहां जागरूक दिखता है, क्योंकि यहां संबंध प्रधान होते हैं (संख्या, स्वर, तर्क, शब्द, ये बनते ही संबंध से हैं) जिनमें उतरना ज्ञातृत्व को ही नहीं, कल्पना को सचेष्ट रखता है। तर्क और उसके व्याप्तिबोध को, या स्वर–ताल और उनकी योजनाओं को लीजिये, इनकी समझ को प्रतिबिंबवत् कहना तो कुछ अति ही दूर की कौड़ी ही होगी, शब्द की तो बात ही क्या! यह भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

देखिये कि ज्ञान – कोई भी ज्ञान – अगर प्रतिबिंब की तरह के किसी भी अर्थ में सचमुच वस्तुतंत्र हो तो संशय की कोटि ही संभव नहीं हो सकती! यही नहीं, वस्तु को इन्द्रिय से जान लेने के बाद भी हम जो पूछते हैं, वस्तु का स्वरूप क्या, यह प्रश्न भी फिर निरर्थक होगा। और यह भी सोचिये कि 'वस्तु अपने आप में है' यह ज्ञान केवल उसके मुझ–पर–उभरते बिंब पर निर्भर नहीं करता। ऊपर के दर्पण का बिंब एक स्थान–विशेष से देखा जाता हुआ एक–दृष्टि–विशेष–द्वारा–अवच्छिन्न रूप में कल्पित है। पर 'वस्तु' अन्यों को न दिखे, (और मेरे देखने में भी) दूसरे परिप्रेक्ष्यों से अन्य बिंबों में, यो यों कहिये कि बिंब–भेदों में भी 'वही' होने का बोध न बनाये रखे, तो मेरे लिये ही नहीं, किसी के लिये भी वस्तु नहीं होगी, चाहे बिंब कितना ही उज्ज्वल और तीखा क्यों न हो (मृगमरीचिका में होता ही है)। यों, ज्ञान को – इन्द्रिय–ज्ञान को भी – निष्क्रिय, विशुद्ध निरनुसंधानी ग्रहण की कोटि में नहीं रखा जा सकता। सच पूछिये तो ऐसा निष्क्रिय निश्चयकोटिक ग्रहण जाग्रत में नहीं, स्वप्न में होता है, जहां हम 'वस्तु' की बात ही नहीं करते! हालांकि, कहना न होगा, स्वप्न–बोध में भी प्रतीति इन्द्रिय द्वारा साक्षात् (निश्चेष्ट भाव से) बिंब ग्रहण की ही होती है : हम आनायास देखते हैं, छूते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, चखते हैं। यह कहना कि स्वप्न में इन्द्रिय–बोध नहीं होता, इन्द्रिय–बोध की छाया या आभास–मात्र मात्र होता है, क्योंकि इन्द्रियां तो सुप्त रहती हैं, यह जाग्रत के प्रति पक्षपात है, पूर्वाग्रह के साथ जाग्रत को इन्द्रियबोध का मूलप्रमाण मान लेना है। इस मान्यता के लिये युक्ति क्या? स्वप्न में इन्द्रियबोध उतना ही जीवंत, स्फुट, अभ्रांत होता है, जितना जाग्रत में! उसे जाग्रत का संस्कार मानना जाग्रत के प्रति अकारण झुक जाना ही कहला सकता है। क्योंकि सोचिये : संस्कार तो स्मृति का भी आधार होता है, पर स्मृति में हमें जो बाह्य–जगत् प्रतिभात होता है उसमें स्वप्न सी स्फुटता कदापि नहीं होती; यहां तक कि उसे इन्द्रिय–बोध की धुँधली रेखा या छाया कहने में भी संकोच हो सकता है; जबकि स्वप्न का बोध उतना ही अपरोक्ष होता है जितना जाग्रत का। हां, स्वप्न से बाहर आकर जाग्रत में हम स्वप्न के सचमुच होने पर प्रश्न करते हैं, इसलिये भी कि अन्यों को नहीं दिखता, पर हमारी प्रश्नमुद्रा, और फिर मीमांसा का जाग्रत की ओर झुकना, ये जाग्रत में ही बनते हैं। पर यह मुद्रा, यह मीमांसा, इन्द्रिय से संबंध नहीं रखती, इन्द्रिय की वेष्टनी से ऊपर उठ कर ही बनती है। विचार–चेतना में बनती है। यों तो हमारी चेतना सहज ही अपने से बाहर देखती है, विषयोन्मुख होती है, पर विषय वस्तु है या नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ज्ञातृत्व का यह संधान तो चेतना की प्रत्यङ्मुखता में ही जागता है, और इस प्रत्यङ्मुखता को हम स्वप्न में नहीं, जाग्रत में पाते हैं। पर विषयोन्मुखता इन्द्रिय तक सीमित नहीं, बुद्धि–विषयों में भी होती है, जिनका इन्द्रिय से संबंध हो भी तो परोक्ष, दूर का संबंध होता है। बुद्धि के लिये स्वप्न में इंद्रिय को निश्चेष्ट मानना, सहज ही प्रश्न का विषय हो सकता है। और मीमांसा के द्वार तो अनेक और प्रतीप–मुखी होते ही हैं!

यहां यह भी लक्षणीय है कि हमारा ज्ञान, इन्द्रिय–लब्ध ज्ञान भी, भाषा की अपेक्षा रखता है। ज्ञान को हम निश्चेष्ट, वस्तुतंत्र भी मान लें तो भी इनकार नहीं कर सकते कि वहां भी रूप के साथ नाम युगनद्ध होता है। नाम भाषा की अपेक्षा रखता है और भाषा आत्मचेतना की। भाषा प्रत्यङ्मुखता में बसती है। वह वस्तु को नाम ही नहीं देती, नाम देते हुए वह वस्तु को स्वतंत्र निरीक्षण–परीक्षण के स्वतंत्र आयाम में भी ला रखती है। जिज्ञासा का ही नहीं कल्पना का भी विषय बना लेती है : विषय को अर्थ के एक ऐसे स्वतंत्र लोक में ला खोलती जो उसे वस्तु–स्वरूप विचार की ओर ही नहीं, लक्षणा, व्यंजना, की ओर भी ले जाते हैं। जिज्ञासा प्रश्न उठाती है, 'वस्तु क्या है', यह पूछती है, और इसके साथ ही अनुसंधान, मीमांसा, समाधान, सिद्धांत, विप्रतिपत्ति.... का प्रत्यङ्मुख आयाम अनायास खुल जाता है। भाषा को माध्यम बनाता हमारा ज्ञाता विषयी विषय से तटस्थ तो रहता है, पर उसकी तटस्थता ज्ञातृत्व के, या कहिये विचारचेतना के, भीतर ही बनती है : हमारा ज्ञातृत्व विषय को अपने में समो कर, उसे कुक्षिस्थ करता हुआ, उससे तटस्थ होता है। विषय उसकी जिज्ञासा में अंतःसात् होकर उसके ज्ञातृत्व का अंतरंग हो जाता है। तभी हम प्रमाण–व्यापार का अपना तंत्र साधते हुए वस्तु–अवस्तु विवेक के मार्ग पर निकल पाते हैं : प्रश्न–संशय करते हुए विषय के विमर्श की संधान–यात्रा के पथिक होते हैं। यह हमारी विषयिता और उसमें निहित ज्ञातृत्व के स्वातंत्र्य का लक्षण और फल ही है जो विचार में प्रकट होता है। विषयी–परकता और वस्तु–परकता में अंतर भी यही स्वतंत्र विषयिता ही करती है। विषयिता के इस स्वातंत्र्य से हम इनकार करें तो प्रमाण–व्यापार से ही इनकार करना होगा, और यह इनकार स्पष्ट ही स्व–बाधक होगा। यह भी देखिये कि हमारी प्रत्यङ्मुख विषयिता अपने को देखती हुई विषय को देखती है। अपने देखने में वह एक व्यवस्था बुनती है, एक संबंध–तंत्र खड़ा करती है, और उसके भीतर से वस्तु को देखती है। अपने तंत्र को वह विस्तार भी देती चलती है। उसे परखती भी चलती है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क्योंकि अपने तंत्र से भी वह प्रत्यङ्मुख, निःसंग होती है। वह किसी भी तंत्र से ऊपर उठ सकती है। यह उसका स्वातंत्र्य है जो विचार के – या कहिये विचार–प्रज्ञा के – उन्मेष में अभिव्यक्ति लेता दिखता है। या हम इसे प्रत्यङ्मुख चेतना में निहित उस उन्मुक्तता का बीज कह सकते हैं जिसे हम कल्पना में जागता पाते हैं; जो चेतना के उन्मेष का ही मर्म प्रतीत होता है।

इन्द्रिय–ज्ञान को इन्द्रिय–सीमित ही मानना, ज्ञातृत्व की भाषा–निष्ठ आत्मचेतन वृत्ति से न जोड़ना, दर्शन की एक प्रख्यात दृष्टि है, जो ऊपर के विमर्श से सर्वथा भिन्न, विपरीत दिशा लेती है। यह दृष्टि इन्द्रिय के रूपबोध और भाषा के नामबोध के बीच ऐसी दरार खड़ी करती है जिसे पाटा नहीं जा सकता। तभी (इन्द्रिय) विषय के बारे में पुराना पर तीखा और सदातन–सा प्रश्न है : इन्द्रिय–लब्ध विषय का स्वरूप सामान्य होता है या विशेष? जिस दृष्टि की हम बात कर रहे हैं, वह हमारे यहां बड़ा प्रबल मत है; कहता है कि (इन्द्रिय) विषय विशेष – स्वलक्षण, 'अपने आप में संकुचित, सर्वथा अन्य–विविक्त, स्व–प्रतिष्ठ' – होता है। हमारे ज्ञातृत्व की सामान्यता–निष्ठ भाषा–चेतना इसे नाम देती हुई विकल्प–विषय बना देती है; यह अपना स्वलक्षण विशेष स्वरूप खो कर हमारे विषयित्व की सामान्य–गर्भ मिथ्या–कल्पना से आवृत हो जाता है। विकल्प मिथ्या–कल्पना के प्रंपच में ले आता है जो विशेष से हट कर भाषा की सामान्यता में रूप लेता है। इस दृष्टि में सामान्य–बोध को कपोल–कल्पना की निर्मिति का हेतु मानते हुए हमारे समूचे सामान्यतां–निष्ठ विषयित्व को ही मिथ्यात्व का उत्स माना गया है और उस जगत्–प्रपंच का बीज माना गया है जिसे हम अपने जगत् के रूप में जानते हैं, जिसमें रहते–जीते हैं, व्यवहार करते हैं। एक बात यहां पहले ही बेढब–सी जान पड़ सकती है : यह कि, माना, भाषा वस्तु–ग्राहक नहीं, लेकिन फिर इन्द्रिय को भी वस्तु–ग्राहक क्यों माना जाये? इन्द्रिय तो मूक होती है, वह क्या देखती है, कुछ बताती नहीं, उसे वाणी तो विकल्प ही देता है! पर, जो भी हो, इस दृष्टि में इन्द्रिय ऐसी निर्विकल्प, और यों कल्पना–शून्य, ग्राहक होती है कि वह वस्तु का ज्यों का त्यों, यथायथ तत्–रूपेण, ग्रहण कर लेती है; (इस मत का ऊपर के बिंब–ग्राहक मत से सादृश्य लक्ष्य है)। इन्द्रिय द्वारा ग्रहण की गई वस्तु सर्वथा विशेष होती है, ग्राह्य–क्षण–सीमित होती है। उससे व्यवहार संभव नहीं। हमारी भाषा–ग्रस्त चेतना विशेष को नाम दे कर उसे व्यवहार–क्षम बनाती है, पर विकृत, मिथ्या भी कर देती है। यहां स्पष्ट ही हमारे समूचे व्यवहार का मिथ्यात्व व्यंजित है (यही दिखाना इस दृष्टि का उद्देश्य भी है)। व्यवहार दुःख है, कारा है, और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हमारी इस दुर्गति के मूल में हमारी विकल्प–चेतना में बसती, उसे रूप देती, अंविद्या या वासना है, जो हमारे दुःखमय संसार–बंध का ही मूल है – हमारी वासना–निहित संवृत चेतना अपने सत्य से भटकी हुई है, अविद्या–दिग्ध व्यवहार के जंजाल में उलझी है। हमें इससे निकलने के लिये निर्वाण–प्रज्ञा के प्रति उद्यत होना चाहिये।

प्रतिप्रश्न हो सकता है कि इन्द्रिय जो हमारे विषयित्व का ही अंग होती है, वह इस वासना–बंध से बाहर कैसे रह पाती है? पर इस प्रश्न पर विचार यहां अवांतर होगा। इस विचार में जाने की आवश्यकता नहीं, पर प्रश्न तो जाग ही जाता है।

पर, अब, वस्तु चाहे विशेष ही क्यों न हो, इतना तो प्रकट ही है कि जिसे हम 'ज्ञान' कहते हैं उसमें विषयी ही नहीं, विषय भी सामान्य होता है। हम अपने इस ज्ञान–व्यापार को वासना या अविद्या की उपज कह सकते हैं, जैसा कि ऊपर कहा ही गया है; पर फिर हमारा विषयित्व, हमारा पूरा विषय–विषयि–भाव ही मिथ्या कल्पना – या वस्तु–शून्य कल्पना मात्र – हो जायेगा, और यही कहना इस दृष्टि का उद्देश्य भी है। पर यह भी देखिये कि यह दृष्टि अध्यात्म–चेतना को ऊह्य रखती दृष्टि है, तो यह चेतना की प्रत्यङ्मुखता को भी ऊह्य रखती है, जिसके बिना अध्यात्म संभव नहीं। विषय की सामान्यता का बोध – विकल्प – भी चेतना की उसी प्रत्यङमुखता के साथ ही रूप लेता है, जो अध्यात्म का बीज है। विकल्प को विचार का ही दूसरा नाम कहा जा सकता है। फिर, 'विकल्प मिथ्या है' यह दृष्टि भी एक विचार–दृष्टि ही है! कोई भी दृष्टि हो, प्रकट विकल्पों में ही होती है : 'स्वलक्षण', 'विकल्प', 'अविद्या' 'वासना'.... ये शब्द ही हैं और यों विकल्प ही हैं!। विषय को विशेष या स्वलक्षण कहना स्पष्ट ही विकल्प–व्यापार का ही काम है : इस व्यापार के बिना स्वलक्षण का लक्षण ही नहीं किया जा सकता : वह क्या है, यह समझा नहीं जा सकता।

फिर, यह भी देखिये कि पशु भी विषयी होता है। इन्द्रियों से ही वस्तु का ग्रहण करता है। पर उसका ग्रहण – और उसका व्यवहार – भाषा से रीता होता है। तो फिर यह भी कहना होगा कि उसका ग्रहण विकल्प–दिग्ध नहीं होता। स्वलक्षण विशेष होता है, सामान्य नहीं होता। पर हम पाते यह हैं कि उसके लिये भी विषय सामान्य ही होता है, नहीं तो हमारी ही तरह उसका व्यवहार भी अकल्पनीय होगा। पक्षी स्वलक्षण विशेष नहीं ढूंढता, 'दाना' या 'कीड़ा–मकोड़ा' या 'तिनका' ढूंढता है, चाहे ये 'नाम' उसकी विषयिता से दूर हों। 'विकल्प' अगर सामान्यता का पर्याय हो, तो पक्षी के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बोध को विकल्प–शून्य नहीं कह सकते। तभी पशु भ्रम–ग्रस्त भी हो जाता हैय अगर इन्द्रिय को अपने आप में निर्विकल्प स्वलक्षण विशेष का ही का ज्ञान होता हो, तो पशु को या तो ज्ञान होगा या नहीं होगा, भ्रम की कोटि नहीं बनेगी। हां, यहां यह कहा जा सकता है कि इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अगर पशु में भी किसी तरह की विकल्प–चेतना होती है जो उसके व्यवहार को चलाती है, तो पशु भी अविद्या–ग्रस्त होता है, क्योंकि व्यवहार मात्र, अविद्या–प्रसूत होता है। पशु की विषयिता हमसे कहीं अधिक विषय–सात्, तत्–परतंत्र होती ही है, पर यह इसलिये कि उसमें भाषा और तन्निष्ठ आत्मचेतन आत्मावलोकन नहीं होता। देखने की बात यहां यह है कि नाम या विकल्प के अभाव में पशु की विषयिता में प्रत्यक्–भाव का अभाव होता है। तभी उसमें अविद्या से परे जागती निर्विल्पकता और तन्निहित स्वातंत्र्य की संभावना भी नहीं जागती : उसमें विकल्प नहीं होता है तो विचार भी नहीं होता है, और विचार के बिना वह प्रज्ञा – या बोधि – भी अकल्पनीय है जो विचार से ऊपर उठने का मार्ग लेती है। विचार से ऊपर उठी 'प्राज्ञ' या 'बोधि–प्रबुद्ध' चेतना को 'निर्विकल्प' कह भी लें तो भी विचार–चेतना के बिना हम उसकी कल्पना, उसकी एषणा नहीं कर सकते, उसकी ओर बढ़ नहीं सकते। यह यात्रा विचार को ऊह्य रखती है। हम उसे रूप विचार में ही देते हैं, चाहे तर्क–युक्ति का न सहीं, विरोधमयी लक्षणा–व्यंजना का सहारा लें, जैसा कि उपनिषद् लेते हैं। पर अध्यात्म–चेतना की लक्षणा–व्यंजना विचार–चेतना को समोये रहती है, उसे ऊह्य–रखती बनती है। यों भी, तर्कतः भी, विचार–निष्ठ प्रत्यक्–चेतना के बिना हम 'विकल्प' को 'विकल्प–मात्र' कह कर उसका निषेध नहीं कर सकते!

विचार–चेतना के अभाव में पशु को विषय का विषयत्वेन बोध नहीं होता : 'यह विषय है', ऐसा 'ज्ञान' उसे नहीं होता। ऐसा ज्ञान विकल्प – या भाषा की – अपेक्षा रखता हुआ ज्ञान के स्व–ज्ञान के साथ ही संभव होता है, और इसी प्रत्यङ्मुखता के साथ विषयिता में उस स्वातंत्र्य का समावेश होता है जो प्रमाण–व्यापार में अभिरत होती है। प्रमाण–व्यापार का स्वातंत्र्य स्पष्ट ही इस व्यापार की प्रत्यङ्मुखता की अपेक्षा रखता है। तभी प्रमाण अपने पर प्रश्न उठाता चलता है। इन्द्रिय–प्रमाण को लें। इन्द्रिय–बोध पशु को भी होता है, पर वह इसे 'प्रमाण' के रूप में नहीं पाता, क्योंकि प्रमाण की प्रमाणता पर प्रश्न नहीं उठा पाता। प्रश्न–उठाती विषयिता विषय को भाषा के माध्यम से अपने भीतर ले कर, उसे अपने से भिन्न रखती हुई, उसे विषयत्वेन देखने–परखने, निरूपण करने में सक्षम होती है। इसे प्रमाण–बोध की भूमिका भी कह सकते हैं, जिसका पशु में अभाव होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रमाण में जो हम विषयि–परकता का (सब्जेक्टिविटी का) दोष पाते हैं तो इसलिये कि हमारी विषयिता ही अपनी प्रत्यङ्मुखता में क्षीण होती है, होती ही रहती है। हमारे विषयित्व में हमारे सीमित स्व के इच्छा–द्वेष, राग–मोह, आग्रह, हठ.... ये भी हैं। प्रबल हैं। इनसे निःसंग न हो पाना हममें विषयि–परकता का दोष जगाता ही रहता है (और यह हम जानते हैं)। पर हम यह भी पाते हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों में ऐसी विषयी–परकता से मुक्ति स्वाभाविक सी है : नहीं तो हमारा एक–ही–संसार–में–सबके–साथ–बनता व्यवहार ही नहीं बने! पर विषय अपने आप में क्या है?, विषय–तत्त्व के ऐसे संधान पर आते ही बात दूसरी हो जाती है। यहां भी दोष, भ्रांति, मोह, और फिर विप्रतिपत्तियों का महासंभार जन्म लेता हैय पर पारदर्शिता की संभावना के साथ, क्योंकि इनका होना इनके आत्मबोध को नेपथ्य में रखता उभरता है। इस स्तर पर यह भी प्रकट होता है कि इन्द्रिय–विषय हमारे लिये बुद्धि–विषय – या विचार–विषय कहिये – बन कर ही विषय की कोटि में आता है।

ऊपर हमने ऐसे भी विषयों की बात की – दर्शन, कला, विज्ञान....– जिन्हें सहज ही बुद्धि–विषय कहा जा सकता है। बुद्धि–विषय अनिन्द्रिय होते हैं। विचार–निष्ठ होते हैं। देश–काल में स्थित नहीं होते। और ये हमारी आत्मचेतन विषयिता के बिना अकल्पनीय भी हैं। पर स्पष्ट ही ये विषयि–परक भ्रांति या कल्पना नहीं हैं। इनमें भी हम उसी प्रत्यक् विषयित्व की अपेक्षा रखते हैं, जो स्व के इच्छा–द्वेष से कलुषित न हो। तभी ये विषय भी प्रमाण–व्यापार के लक्ष्य होते हैं। पर, साथ ही, इन्हें हम विषयिता के स्वातंत्र्य से अधिक स्फुट–भावेन संपृक्त भी पाते हैं। इनमें हमारी ऊह–कल्पना, हमारी प्रज्ञा या बुद्धि का उन्मेष स्पष्ट काम करता उभरता है। तभी इनमें सर्जन की, उन्मेष की, बात करते हैं हमय इन विषयों को हम बाह्य, इन्द्रिय–लब्ध जगत् की तरह सर्वथा सिद्धभावेन प्रदत्त नहीं मानते, इनकी साध्यता से हम अंतरंग भाव से अवगत रहते हैं। पर इन्हें इन्द्रिय–विषय की तरह ही स्वस्थित, स्वतंत्र पाते हैं; इनमें भी हम वस्तु–अवस्तु का संधान करते हैं, और इसके निकष साधते हैं।

इन विषयों में हमारा ऐसा विषय–विषयि भाव स्फुट होता है जहां विषय स्वतंत्र होता हुआ भी विषयी को अनिवार्य रखता है। यह भी संकेत स्पष्ट व्यंज़ित होता है कि विषयी ही विषय को स्वातंत्र्य देता है : तभी इनमें सृजन–कल्पना की भूमिका प्रकट है। और जैसा हम अभी कह आये हैं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

विषयी की अनिवार्यता का और सृजनधर्मिता का यह संकेत इस बात से और प्रखरतर उभरता है कि इन विषयों का विषयत्व स्वतंत्र होते हुए भी सदातनेन ध्रुव या सिद्ध–प्रदत्त नहीं होता, जैसा कि इन्द्रिय–विषयों के बारे में हम सहज समझते हैं। इन्द्रिय–विषय हमारे बोध पर मानो स्वतः आघात करते हुए हम पर हावी होते हैं (यह भी एक कारण है कि हम उन्हें स्वयंभू, स्वस्थित, ज्ञातृत्व की ज्ञान–चेष्टा से निरपेक्ष पाते हैं)। पर बुद्धि–विषय अवगाहन की अपेक्षा रखते हैं, और यह अपेक्षा कल्पना और सृजन को स्वरूप–निहित रखती है – यों ये विषय अपने होने में ही हमारे विषयित्व को प्रकट ऊह्य रखते हैं। और तभी हम पाते हैं कि बुद्धि–विषय विषय–रूपेण स्वतंत्र ही नहीं होते, विषयत्वेन प्रसार और विकास का अनंत क्षितिज भी पालते हैं। ये बनते ही विषय–विषयी की अविच्छेद्य युगनद्धता में हैं। युगनद्धता का यह पारस्पर्य और उसका संभाव्य विकास इन्द्रिय–विषयों में साक्षात् प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वहां हमें लगता है कि विषय विषयी–निरपेक्ष है। बल्कि विषयी ही वहां विषय–सापेक्ष जान पड़ता है : विषयी ऐसे जगत् में – संसार में – रहता, रूप लेता है, जो इन्द्रियों के बिना अकल्पनीय है। उसका अपना जो भी स्वातंत्र्य है – या प्रतीत होता है – वह ऐसे जगद्भाव की उद्भूति है जो इन्द्रियों के बिना होगी ही कैसे? पर यह न भूलना चाहिये कि बुद्धिदत्त विषय भी इन्द्रिय–प्रदत्त हो सकते हैं : हमारी निर्मितियों में। ये निर्मितियां व्यवहार की सुविधा–उपादेयता के लिये भी होती हैं, जैसे बरतन; पर ये हमारे विषयि–भाव के स्वातंत्र्य की अभिव्यक्तियां भी होती हैं, और यों निरुपादेय–भावेन अपने आप में भी सार्थक होती हैं, जैसी चित्रों में, भास्कर्य में। ये निर्मितियां स्पष्ट ही हमारी बुद्धि (और तन्निष्ठ कल्पना की) अपेक्षा रखती हैं।

ऊपर के विमर्श में ध्वनित है कि हमारा विषय–बोध, और साथ ही हमारा विषयिबोध (क्योंकि विषयि भी स्वविषय होता हुआ विषयी होता है), ये दोनों ही विषय–विषयि–भाव के परस्पर–स्वतंत्र पर परस्पर–नद्ध अविनाभाव के सम्पुट के भीतर बनते हैं। पर इस भाव के भीतर विषयत्व को स्वतंत्रता, विषय की तत्–रूपता, उसकी निरपेक्ष स्वसत्ता, ये विषयित्व ही प्रदान करता है। इन्द्रिय–विषय का भी हम जब विषयत्वेन संधान करते हैं – पूछते हैं कि, 'यह क्या है', तब वह भी दूसरे विषयों की तरह ही अवगाह्य हो जाता है, उसका संधेय रूप हमारा ही दिया हुआ होता है, हमारी विषयिता के बिना अकल्प्य है, और तभी उसके स्वरूप को लेकर विप्रतिपत्तियां जागती हैं। और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तभी उसके 'अपने आप में विषयि–निरपेक्ष' होने पर भी अनायास प्रश्न उठते हैं। यों भी हम विषयी–कैवल्य की तो कल्पना कर सकते हैं; विषय–कैवल्य की नहीं : वह तो अंध–तमस् होगा। सच यह है कि हमारी स्वतंत्र विषयिता के बिना विषय का स्वयंभू विषयत्व कुछ भी नहीं है, चाहे विषय इन्द्रिय–विषय हो या अनिन्द्रिय विषय।

(3)

हम अंतः की कुछ बात छेड़ आये हैं। पर बात, मैं समझता हूं, और कुछ विशेष चर्चा भी चाहती है।

हम प्रदत्त जगत् की बात करते हैं तो ध्यान में इन्द्रिय–प्रदत्त बाह्य जगत् होता है। यहां एक प्रश्न सहज ही ध्वनित होता उभरता है : क्या बाह्य–जगत् ही सामान्येन, स्वस्थितेन प्रस्तुत जगत् की कोटि में आता है, अंतः जगत् नहीं? पर, अंतः–जगत् भी उतना ही हमारे बोध पर हावी होता हुआ प्रस्तुत होता है जितना कि बाह्य–जगत्य बल्कि हमें बाह्य से कहीं अधिक अभिभूत करता हुआ प्रस्तुत होता है अंतःजगत्। अंतः के होने का बोध हमारे लिये बाह्य के होने से कहीं अपरोक्ष होता है : इन्द्रिय जैसा कोई माध्यम यहां आड़े नहीं आता (जो फिर जगत् को अपनी तरह से सामने लाता है)। अंतः का होना हमारे लिये स्वतः–प्रामाण्य होता है : बाह्य–जगत् पर हम संशय कर सकते हैं, उस पर नहीं।

फिर, अंतः की अन्य–सामान्यता भी हम पर प्रकट रहती है – साक्षात् प्रकट रहती है – चाहे अन्य के अंतः का इन्द्रिय–बोध न होता हो; पर यह तो हमें अपने अंतः का भी नहीं होता! अंतः का अनुभव देश में नहीं होता, और यह भी नहीं कह सकते कि अंतः काल में होता है। पर होता सामान्य है। सच तो यह है कि अन्य को भी हम इसी रूप में पाते हैं। अन्य को हम एक तत्–स्वगत विशेष–तत्–व्यक्ति–निष्ठ विशेष – पाते हुए उसे भी अंतः–सामान्य के अन्तर्गत, उस सामान्य से अविच्छिन्न और यों उससे अविच्छिन्न, विशेष ही पाते हैं। अपनी व्यक्ति–सत्ता को हम इसी रूप में अन्य–व्यावृत्त पाते हैं : अन्य–सामान्यों में एक विशेष। बल्कि, मनुष्येतर जीवों में भी हम अंतः की सामान्यता सहज देख पाते हैं, नहीं तो उन्हें 'जीव' की कोटि में ही नहीं रखेंगे। जीव–मात्र में अंतः का विशेष अवच्छेद, चाहे जातिगत हो या व्यष्टिगत, अंतः की सामान्यता को ऊह्य रखता है। भाषा–चेतन मनुष्य में तो अंतः की यह सामान्यता इतनी घनिष्ठ होती है कि मैं अपने 'मैं'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को ही सर्वनाम–रूपेण अन्य–सामान्य पाता हूं (जैसा हम ऊपर कह आये हैं)। मेरा 'मैं' जिस भाषा–चेतना में रहता हुआ अपने को अनन्य 'मैं' के रूप में पाता है, वह चेतना व्यक्ति–ऊर्ध्व, सर्वसामान्य होती है, नहीं तो मेरा भाषा–प्रयोग ही संभव न होगा, अर्थवत् नहीं होगा। और यह बोध मुझमें जागता रहता है। मेरे लिये 'मैं' किसी स्वलक्षण विशेष की ओर इंगित नहीं करता (ऐसा इंगित संभव ही नहीं)। 'मैं' का प्रयोग मैं अन्य मनुष्य के लिये ही नहीं, जीवमात्र के लिये कर सकता हूं – पंचतन्त्र ही उठा कर देख लीजिये। मैं चेतना की भाषानद्ध सामान्य प्रत्यङ्मुखता में अपने को अपना विषय पाता हुआ, विषयरूपेण अन्य–सामान्य पाता हूं; और इसी रूप में अन्य–व्यावृत्त पाता हूं। मेरे विशेष मैं की अन्य–व्यावृत्ति मैं–सामान्य के अंतर्गत बनती है और इस व्यावृत्ति में ऊह्य रहती है। व्यावृत्ति–व्यापार व्यावृत्त के साथ व्यावृत्य को ऊह्य रखता हुआ ही बन सकता है। यों अपने को अन्य–व्यावृत्त पाता हुआ मेरा मैं मैं–सामान्य–समावेशी विशेष होता है (तभी उसे वह, तुम, कोई.... जैसे नामों से भी अभिहित किया जा सकता है)।

यहां विषयी की सामान्यता में मैं अन्य–व्यावृत्त 'स्व' का निषेध नहीं कर रहा। यही देख रहा हूं कि वह एक सामान्य–गत विशेष है। उसकी सामान्यता को समझे बिना, उसके विशेष को भी नहीं समझा जा सकता।

क्योंकि सोचिये। जो पत्थर का टुकड़ा मुझे बाहर दिख रहा है, उसे मैं बाह्य विषय कहता हुआ एक ऐसे बाह्य जगत् में रखता हूं जो मुझसे स्वतंत्र है, ऐसे बाह्य जगत् में स्थित है जो अपने आप में है, देश–काल में स्थित होता हुआ स्वप्रतिष्ठ, स्व–योजना–निष्ठ है। अपने स्व को मैं बाह्य–भिन्न 'अंतः' में स्थित मानता हूं। पर बाह्य और अंतः का भेद ही मैं, स्वांतः–स्थित होता हुआ करता हूं। हम अनुभूत कर सकते हैं कि मेरे लिये मेरा स्व ही अंतः को बाह्य से परिच्छिन्न – या अवच्छिन्न – करता है। पर साथ ही इस स्व–अंतः में मैं एक योजना की बात भी कर सकता हूं, इसे बाह्य की तरह ही स्वप्रतिष्ठ भी कह सकता हूं। पर 'अन्य' के अंतः को भी मैं अपने अंतः का सधर्मी पाता हूं। अन्य को मैं पत्थर की तरह बाह्य–स्थित पाता हुआ भी उसमें अपनी तरह के ही अंतः का बोध करता हूं। अनायास सोच सकता हूं कि जो मैं चाह रहा हूं, वह भी चाह सकता है और यह बात मुझे सता भी सकती है!)। यों अन्य स्व को मैं अन्य के अंतः में स्थित पाता हूं, जिस अंतः को मैं अपने अंतः की तरह ही बाह्य–जगत् में नहीं रखता। प्रश्न हो सकता है, कहां होता है यह अंतः? बाह्य–शरीर के भीतर तो नहीं ही होता है!

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(US)

पर सहज ही दिख जाता है कि 'कहां' का प्रश्न अंतः के लिये अप्रश्न है, चाहे वह अंतः मेरा हो या अन्य का (आपका)। वह पत्थर की तरह देश–काल में है ही नहीं। देश–काल की कोटियां उस पर पूरी नहीं उतरतीं। बाह्य को देश–काल में रखते हुए हम यह स्वभावेन मान कर चलते हैं कि बाह्य जगत् ऐसी सत्ता है, जो मुझ से, मेरे अंतः से निरपेक्ष है : वह विषयी–सापेक्ष है ही नहीं। (इस पर प्रश्न उठाया जा सकता है, पर यह बात और है)। पर अन्य में अंतः के होने का बोध विषयित्व की अनिवार्य अपेक्षा रखता है। अगर मुझ में अंतः न हो, मैं विषयी न हूं, तो मुझे 'अन्य में अंतः है', यह बोध नहीं होगा। बाह्य–जगत् का होने को हम अपने होने से सहज ही निरपेक्ष रख सकते हैं, पर अन्य के अन्यत्व के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मैं अन्य की ओर उन्मुख होता हुआ, उसे आत्म–सम विषयी पाता हुआ ही उसे अन्य पाता हूं। मेरे लिये अन्य का परत्व उसके आत्मसम होने को ऊह्य रखता है; पर बाह्य–जगत् को मैं विषय मात्र के रूप में भी देख सकता हूं। पर यह भी है कि मेरे अन्य के बोध में अन्य मेरे लिये प्रधानतः मनुष्य होता है, और मेरी मनुष्योन्मुखता जड़ ही नहीं दूसरे जीवों के प्रति उन्मुखता से भी भिन्न होती है। अंतः की अन्य–सामान्यता का प्रखरतम अंतःनिविष्ट बोध मानव विषयी की सामान्यता का होता है। इस सामान्यता में ही मैं अन्य को आत्मसम भोक्ता–अनुभोक्ता, ज्ञाता, कर्ता के रूप में पाता हूं। तभी मेरे लिये अन्य प्रमाण हो सकता है। होता ही है। बाह्य जगत्–गत वस्तु–बोध में ही नहीं, भाव, कर्म, विचार सब में। और अध्यात्म में भी : क्योंकि मैं जानता हूं कि 'मेरे' परिच्छिन्न विषयित्व में दोष या भ्रांति हो सकती है। यह ठीक है कि मैं दावे के साथ कहता हूं – हम सभी कहते हैं – कि 'मेरा' भोक्ता–अनुभोक्ता 'मैं' मेरा विशिष्ट है, और वही 'मेरा मैं' है, पर भूलना न चाहिये कि ऐसा दावा मैं अन्य विषयी के अनुभव की अनन्यता को गवाह बना कर करता हूं।

अपने में निहित सामान्यता–बोध के कारण ही हम अंतः को एक ऐसे जगत् के रूप में देखते–पाते हैं जो आपातभाव से हममें होता हुआ भी अपने आप में स्वस्थित ही नहीं होता, स्व–योजना–प्रतिष्ठ भी होता है। बाह्य की सामान्यता को अंतः की इस सामान्यता का उपजीवी तक कहा सकता है : इन्द्रिय–बोध भी अंततः अंतः–स्थ होकर ही बाह्य का बोध होता है, और अंतः को युक्तितः इस बोध की (इन्द्रिय–बोध की) सामान्यता का आधार कह सकते हैं। या यों कह लीजिये कि हमारी इन्द्रियां भी हमारे अंतः–स्थ विषयित्व का ही एक अंग होती हैं (इन्द्रियों में मन को गिनने का और उन्हें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन्द्रियातीत कहने का यही अर्थ है)। स्पष्ट ही, इन्द्रियों के इन्द्रियत्व को (उनके संवेद या बोध को) बाह्य जगत् में रखने का तो कोई अर्थ नहीं बनता (और फिर ऊपर–आये उस विमर्श पर भी इस प्रसंग में फिर से ध्यान दीजिये जहां हम स्वप्न में भी इन्द्रियों को व्यापृत देख आये हैं)।

फिर, यह भी सोचिये कि इन्द्रिय की 'बाह्यता' भी अंतः पर ही उभरती है। और अंतः की सामान्यता को और स्फुट प्रकट करती है। हमारे उस विषयित्व को प्रकट करती है जो हमारी रहनी–सहनी के लिये एक सामान्य संसार का निर्माण करता है, जिसे हम जाग्रत व्यवहार का जगत् कह सकते हैं – ऐसा बाह्य–जगत् जो कि (स्वप्न से भिन्न) मेरे अकेले का नहीं, सबका – मनुष्यमात्र का – होता है। 'मनुष्यमात्र का' इसलिये कह रहा हूं कि हमारा (मनुष्य का) व्यवहार भाषा से अविनाभूत होता हुआ एक विशेष नाम–रूप के जगत् में बनता है, और उस जगत् को बनाता भी है : हमारा इन्द्रिय–लब्ध और इस लब्धि के साथ अविनाभावेन भाषानद्ध, भाषाविद्ध जगत् अन्य जीवों का नहीं होता। अगर कोई ऐसा इन्द्रिय–प्रदत्त जगत् है जो सर्व–जीव–साधारण है, जैसा कि भात होता है, तो उस जगत् के रूप का निरूपण हम (मनुष्य) अपनी नाम–चेतना–निष्ठ विषयित्व के माध्यम से ही कर सकते हैं, जैसा कि विज्ञान करता दिखता ही है। ध्येय रहे कि यह निरूपण नाम के बिना – भाषा–चेतना और तन्निष्ठ विचार के बिना – संभव नहीं। बल्कि हम पाते हैं कि विज्ञान में रूप रूप ही नहीं रहता, संख्या (और यों नाम) हो जाता है, जो कि स्वभाव से अरूप है : भाषा (प्रतीक–व्यवस्था) के बिना अकल्पनीय है।

इतना कहने के बाद भी मैं अपनी स्व–ता के निविड़, घनिष्ठ अनुभव को प्रमाण रखते हुए हठ कर सकता हूं कि 'अंतः' मेरे लिये 'मुझ व्यक्ति का निजी विशेष विषयिता–बोध', ही होता है, और इसी रूप में वह बाह्य से भिन्न होता है। वह बाह्य की तरह सामान्य बोध का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि मेरा अंतःबोध अन्य के लिये अगम्य होता है! मेरे सुख–दुख, इच्छा–द्वेष ही नहीं, मेरी कल्पना, मेरा विचार.... ये नितांत 'मेरे' होते हैं, मुझे ही अनुभूत होते हैं, नही तो होंगे ही नहीं। पर बाह्य जगत् ऐसा नहीं है, उसका होना मेरे निजी या स्व–गत अनुभव का मुखापेक्षी नहीं होता। पर यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि बाह्य–जगत् का बोध – इन्द्रिय–बोध – वह बोध जो एक निरपेक्ष और सामान्य बाह्य–जगत् को हमारे लिये प्रस्तुत करता है, बोध के रूप में वह भी स्वगत मेरा ही होता है : मेरे अनन्य अंतः में अधिष्ठित होता है। बाह्य–जगत् को कितना ही सामान्य ही क्यों न कह लीजिये, उसका सामान्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बाह्यत्व मेरे स्वगत बोध का सापेक्ष होता है। पर कहना न होगा कि इस बात से यही उभर कर आता है बोध का 'मेरा' होना उसकी सामान्यता का बाधक नहीं होता। उलटे, मेरा इन्द्रिय–बोध मेरे लिये जितना साक्षात्, स्वच्छ, अपरोक्ष होता है, उतना ही बाह्य को स्फुट प्रकाशित करता है।

सुख–दुख, इच्छा–द्वेष, को ही लीजिये – कल्पना, विचार.... की तो बात ही क्या – ये भी सामान्य ही होते हैं। और यह हम जानते हैं : इन्द्रिय–बोध की तरह ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुख.... के बोध के भीतर भी हम जानते रहते हैं कि ये सामान्य हैं। इनके होने में ही इनकी सामान्यता का बोध हममें निःसंदिग्ध भाव से जागता रहता है, वैसे ही जैसे बाह्य वस्तु के मुझमें–होते ज्ञान की सामान्यता का बोध। आपत्ति हो सकती है कि हमारा इच्छा, द्वेष.... का अंतः–अनुभव इन्द्रिय के अनुभव से कहीं अपरोक्षभाव से मेरा होता है, क्योंकि इनके अनुभव में इन्द्रिय जैसा कोई बहिर्मुख माध्यम (या कहिये, मुझे मुझसे दूर करता व्यवधान) आड़े नहीं आता। इच्छा, द्वेष, सुख, दुख.... इनका साक्षात्–भाव नितांत मेरा होने के कारण ही अपरोक्ष होता है। तभी मेरे राग–द्वेष की चुभन, इनकी कसक, नितांत मेरी होती है। ठोस, तीखी, मांसल होती है! इन्द्रियज्ञान के अनुभव में यह चुभती अनी नहीं होती! और तभी हम यहां बोध की अनन्य 'बस–मुझमें–होते' अनुभव की बात बड़ी निःसंशय दृढ़ता से करते हैं। यह ठीक है। पर तो भी हम जानते रहते हैं इन्द्रिय–बोध की तरह ही ये भी अपनी सामान्यता को रखते हुए ही मेरे होते हैं। दूसरे की इच्छा मेरी इच्छा से टकराये तो इच्छा की सामान्यता का बोध एकदम से आगे आ जाता है!

थोड़ा भी विचार करें तो दिख जाता है कि हम अंतः के होने को ठीक होना (अपने आप में होना) इसलिये नहीं मान पाते क्योंकि होने का प्रमाण हमारे लिये इन्द्रिय–प्रदत्त होना है। देशकाल में होना है। इच्छा, द्वेष देश–काल में नहीं होते। तो फिर ये होते ही कहां है? इनका होना ही कैसा? हम इन्हें विषय के रूप में देखते हुए भी इन्हें स्वस्थित 'वस्तु' के रूप में नहीं देख पाते। क्योंकि हमारी 'वस्तु' की अवधारणा देश–काल गत विषयों को प्रतिमान बनाती है। हमारे लिये बाह्य–जगत् ही वस्तु–जगत् है, अंतः–जगत् नहीं, हालांकि उसका विस्तार बाह्य से कहीं अधिक उभरता है (अन्नमय कोष से लेकर विज्ञानमय, आनंदमय कोष की बात गहरी अनुभूति साथ की ही गई है)। अब, अंतः–जगत् चाहे सामान्य हो, चाहे शरीरबोध से लेकर भाव–ज्ञान–संकल्प बोध, अध्यात्म बोध.... के ऊपर–उठते कई आयाम या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आयतन पालता हो, पर हमारे लिये वहां 'वस्तु' का अवस्थान नहीं होता। ऐसा मानते हुए हम 'वस्तु' के अर्थ को और उसके तत्त्व को बाह्यता से परिभाषित करते हैं : 'जो देश–काल में होता है, और इन्द्रियों के माध्यम से बाहर दिखता है, वही 'वस्तु' हो सकता है'।

पर 'वस्तु' की कोटि को यों सीमित कर देना विचार का एक कुसंस्कार भी ठहरता दिखता है। इस संस्कार के कारण हम इच्छा–द्वेष आदि को ही नहीं, गणित, दर्शन, कला, इतिहास....., इनमें भी 'वस्तु' की बात करने से कतराते हैं। पर ये विषय अगर सामान्य हैं, इनमें अगर हम प्रमाण की बात करते हैं, सत्य–मिथ्या का भेद करते हैं, तो वस्तु–अवस्तु का ही विवेक करते हैं। बल्कि हम पाते हैं कि प्रमाण–व्यापार इन्द्रिय–गत विषय को भी जब लक्षित करता है तो भी इन्द्रिय से हट कर प्रत्यङ्मुख विषयित्व का अंतःगत विषय बना कर ही करता है, और जितना आगे बढ़ता है, विचारमय होता चला जाता है : इन्द्रिय–गत विषय का तत्त्व क्या? यह प्रकट ही विचार का विषय है। विचार इन्द्रिय नहीं करती, अंतःगत प्रत्यङ्मुख चेतना विचार करती है! और इसी प्रत्यङ्मुख चेतना के साथ ही गणित, विज्ञान, कला, दर्शन....., ये विषय प्रकट होते हैं जो स्वभाव से ही इन्द्रियोर्ध्व होते हैं। अपनी तरह के प्रमाण–व्यापार की अपेक्षा रखते हैं। यों, बाह्य–वस्तु की तरह ही गणित की संख्या, ज्यामिति की आकृतियां, इनके संबंध, स्वर–ताल, इनकी योजनायें, युक्ति–तर्क.... ये सब सहज ही वस्तु की कोटि में आते दीखते हैं। इनमें भ्रांति हो सकती है, पर भ्रांति तो ज्ञान–व्यापार में सामान्य है – चाहे इन्द्रिय–ज्ञान ही क्यों न हो! भ्रांति न हो तो प्रमाण–व्यापार का काम ही क्या?

कहा जा सकता है कि हम अंतः के कोषों की बात करते हैं, या भाव–ज्ञान–संकल्प इनकी बात करते हैं, तो बात अंतःगत वृत्तियों की करते हैं, इन्हें वस्तु नहीं कहा जा सकता। पर वृत्ति का होना, उसकी सार्थकता, तद्गत वस्तु के संबंध से ही बनती है; वृत्ति वस्तु की अन्वेषक होती है, तभी प्रमाण–व्यापार पालती है। अन्नमय कोष के व्यापार को ही ले लीजिये, वह अन्न और अन्–अन्न की पहचान करता ही है। कह सकते हैं, यह प्राकृत कार्य–कारण व्यापार है, प्रमाण–व्यापार नहीं। पर कोष परस्पर–संबद्ध होते हैं; विज्ञानमय – या कहिये बुद्धिमय – कोष जब अन्न की ओर उन्मुख होता है तो पथ्य–कुपथ्य, स्वाद–विस्वाद जैसे प्रत्यय और इन पर विमर्श का एक पूरा प्रमाण–व्यापार और संकल्प–व्यापार खड़ा कर लेता है (आज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के अखबार में ही इसके प्रमाण मिल जायेंगे : स्वास्थ्य के लिये क्या खाओ, न खाओ, स्वाद के लिये क्या व्यंजन कैसे पकाओ....)। यह व्यापार अन्नमय को ही साक्षी बनाता है, जैसे बाह्य–जगत् के बोध का प्रमाण–व्यापार इन्द्रिय को।

अंतः–जगत् में वस्तु की स्वीकृति के विरुद्ध यहां एक और आपत्ति उठाई जा सकती है। यह कि इन्द्रिय–लब्ध विषय – बल्कि, देश–काल–स्थित संपूर्ण वास्तव जगत् – हमें ही नहीं, जीव–मात्र को इन्द्रिय–लब्ध होता है। और इससे यह उभरता है कि इन्द्रिय–लब्ध जगत् ही वास्तव विषयि–निरपेक्ष जगत् है, जहां स्वतंत्र, स्वस्थित वस्तु की बात हो सकती है। दर्शन, कला, विज्ञान....., ये तो पशु के लिये विषय ही नहीं हैं। ये मनुष्य–चेतना सापेक्ष हैं, इन्हें सहज ही मनुष्य के विषयित्व का आक्षेप कहा जा सकता है, चाहे यह विषयित्व मनुष्य–सामान्य ही क्यों न हो।

पर जैसा कि हम ऊपर भी इंगित कर आये हैं, हमारी आपत्ति यह मान कर चल रही है कि एक स्वतंत्र, स्वस्थित वस्तु–जगत् या वस्तुभूत जगत् है जो इन्द्रिय के माध्यम से एक परम सामान्य विषयित्व के लिये विषय–रूपेण प्रस्तुत होता है, और जो सभी प्राणियों के लिये 'वही' है, अभिन्न है। स्पष्ट ही, ऐसा मानने में समस्या है। क्योंकि अगर प्रस्तुति इन्द्रिय–सापेक्ष है तो अनिवार्यतः इन्द्रिय–भेद सापेक्ष भी है। 'इन्द्रिय' अपने आप में तत्त्वेन अद्वय और समान कुछ नहीं है। उलटे, इन्द्रियां स्वरूप से भिन्न होती हैं : भिन्न इन्द्रियों के बोध भिन्न होते हैं; उनके उपलब्धि–भेद में कोई एकत्व या एकसूत्रता भी नहीं होती। फिर, उनमें सामर्थ्य–भेद भी होता है, और इससे भी उपलब्धि–भेद उभरता है। मोटी बात यह है कि इन्द्रिय अगर जगत् को प्रस्तुत करती है तो भिन्न इन्द्रियां भिन्न जगत् प्रस्तुत करती हैं। उत्तर में कहा जा सकता है : माना, जगत् का, जगत्–स्थित वस्तुओं का, वस्तु–रूपेण ग्रहण भिन्न इन्द्रियां भिन्नभावेन, भिन्नरूपेण, करती हैं, पर उनका ग्राह्य विषय अपने विषयत्व में – अपने तत्त्व में – एक, अभिन्न होता है। यहां कल्पना एक विशुद्ध, विषयि–निरपेक्ष विषयत्व का – या कहिये विषय–तत्त्व का – ऊह करती दिख रही है। विज्ञान कुछ ऐसे ही विशुद्ध विषयत्व को ऊह्य रखता हुआ उसके स्वरूप का संधान करता है। पर यह 'विशुद्ध विषय' भी अंततः इन्द्रिय को विषयी मानते हुए कल्पित होता दिखता है। यों यह इन्द्रिय–विषयित्व द्वारा अवच्छिन्न या उपहित है, विशुद्ध विषयत्व नहीं है। यह भी प्रश्न यहां रह ही जाता कि किस इन्द्रिय को यहां इन्द्रियमात्र का प्रतिभू माना जाये, और किस आधार पर? हम (मनुष्य) सहज भाव से चक्षु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और स्पर्श को ही वस्तु का द्रष्टा मानते हैं। विज्ञान भी यही करता है। पर इसका आधार हमारे व्यवहारगत संस्कार के सिवा क्या हो सकता है? विशुद्ध विषयत्व की बात अगर किसी गहरी तत्त्व–दृष्टि के साथ कहीं हुई है तो सांख्य में हुई है। सांख्य की प्रकृति को विशुद्ध विषय कह सकते हैं। पर फिर प्रकृति स्वरूपेण अव्यक्त है, न-कुछ जैसी ही है। विषयी के संसर्ग से ही वह रूप लेती है; और मर्म की बात यह कि विषयी के लिये रूप लेती है। अपने आप में उसका होना न–होने जैसा ही है। अर्थ–विहीन। कह सकते हैं कि 'होने' का 'अर्थ' से कोई निहित स्वरूप–संबंध नहीं है; विज्ञान अपने विषय से अर्थ को अलग रखता हुआ ही उसके ज्ञान की ओर बढ़ता है, और तभी इतना बढ़ पाया है। पर विज्ञान का विषय विषयी की जिज्ञासा का अर्थ तो होता ही है, नहीं तो विज्ञान ही नहीं होगा (इस बात को चाहे हम यहां बिसार भी दें कि विज्ञान की संधान–प्रवृत्ति को बनाये रखने के पीछे उसकी उपादेयता का – भोगार्थता का – आधार मौलिक है, व्यवहारेण अत्याज्य है)।

फिर, इन्द्रिय–जगत् का संधान करते विज्ञान को हम इन्द्रिय से दूर हटता ही पाते हैं, इन्द्रिय–बोध जहां परोक्ष से परोक्षतर होता चला जाता है! विज्ञान इन्द्रिय के उपलब्ध बोध का निषेध करता हुआ, ऐसे जगत् का निरूपण करता है जो विचार के बिना अनिरूप्य है; इन्द्रिय के लिये तो अगम्य है ही। उसे 'गणित–गम्य' की संज्ञा दी जा सकती है, और गणित की निरिन्द्रियता तो प्रकट है। यह ठीक है कि विज्ञान की खोज जगत् को प्रत्यक्ष–प्रदत्त मानते हुए, इन्द्रिय को किसी (आदर्श) अर्थ में आधारतया ऊह्य रखती है, पर वह इन्द्रिय ही निरिन्द्रियमुखी होती चली जाती है : इन्द्रिय की अनुभूत उपलब्धि से बिलकुल दूर निकलती चली जाती है; विचार के परोक्ष व्योम में ही वह जगत् की इन्द्रिय–प्रत्यक्षता के चित्र आँकती दिखती है। तभी विज्ञान आज अपनी तरह से तत्त्व–दर्शन का–सा रूप लेता दिख ही रहा है, जहां तत्त्व विचार–लोक में रहता है, और सिद्धांत स्वरूपेण विप्रपत्ति–ग्रस्त। हमारा प्रत्यक्ष जगत् विज्ञान में आज जिस – या जिन – रूपों में उभर रहा है, वह नितांत अरूप की निरुत्तर पहेलियां खड़ी करता दिखता है। प्रयोगशाला में 'प्रत्यक्ष' परीक्षा की बात तो अब कहानी सी ही होती लग रही है : प्रारंभिक विस्फोट को ही लीजिये, जिसका केवल ऊह ही किया जा सकता है! फिर अब तो काल्पनिक (वर्चुअल) अणु–पिंडों (पार्टिकल्स) की बात भी होने लगी है : ये 'पिंड' गणित की मांग को पूरा करने के लिये 'आवश्यक' हैं; किसी भी तरह के वीक्षण से सर्वथा परे हैं। इनका होना नहीं–होने के शून्य में डूबा रहता है, वहीं से रूप लेकर उभरता है, गणित की मांग पूरी कर के वहीं विलीन हो जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हम जीव मात्र के लिये सामान्य एक अभिन्न विषय–जगत् की बात करना चाहें तो (सांख्य से इंगित लेते हुए) एक जगद्भाव की बात कर सकते हैं जो भिन्न प्राणियों के भोग के लिये भिन्न इन्द्रिय या इन्द्रिय–व्यूहों को आधार बनाता हुआ भिन्न उपाधि–भेद से प्रस्तुत होता है। या यों कहना अधिक उचित होगा कि जगद्भाव का भेद भिन्न विषय–विषयि–भाव को अवलंब बनाता उभरता है, इन्द्रिय जहां विषयित्व का एक अंग होती है : जगद्भाव विषय–विषयि की अवियोज्य युगनद्धता में बनता है। पर हम अगर इस जगत् के ज्ञान की बात करें तो इन्द्रिय तक सीमित नहीं रह सकते है (जैसा कि हम देख भी आये हैं)। कहने को कह सकते हैं कि ज्ञानेन्द्रिय के रूप में इन्द्रिय विषयिमात्र के लिये जगत् के ज्ञान का भी माध्यम होती है। पर पशु के लिये यह 'ज्ञान' भोग का अभिन्न अंग होता है, अपने आप में स्वतंत्र नहीं होता, जैसा मनुष्य में है। इस भेद को ध्यान में रखें तो विषयित्व में प्रकार–भेद की ही नहीं, स्तर–भेद की भी बात अनायास उठेगी। यह भेद हम पाते ही हैं। मनुष्य में ही चेतना की प्रत्यङ्मुखता के साथ ज्ञातृत्व उभरता है। ज्ञानेन्द्रियों का स्वातंत्र्य मनुष्य की जिज्ञासु चेतना में ही रूप लेता है। पशु की तरह उसका ज्ञान भोग–निमज्जित नहीं रहता, या यों कहिये कि मनुष्य–विषयी विषय–सात् नहीं रहता, स्वतंत्र हो जाता है, और तभी उसके लिये ज्ञान के स्वतंत्र आयाम का दिगंत खुलता है।

इतनी सी ही बात लीजिये। मनुष्य के लिये जगत् नाम–रूप होता है। प्रत्यय के माध्यम से विचार–चेतना को प्रस्तुत होता है। अन्य जीवों में नाम का अभाव है तो विचार का भी अभाव है। या कहिये वहां ज्ञातृत्व और ज्ञान के स्वज्ञान–निष्ठ प्रमाण–व्यापार का अभाव है। और तभी जगत्–विषयक जिज्ञासा का भी अभाव है। यों, मनुष्येतर जीवों को भोग–सार भी कहा जा सकता है। इनमें भोगेन्द्रिय ही होती है। या यों कहिये कि इनकी ज्ञानेन्द्रिय भोगेन्द्रिय–परतंत्र होती है। जगत् क्या, उसका 'वस्तुत्व' क्या, कोई वस्तुत्व है भी या नहीं है.... ? ऐसे प्रश्नों की बात हम मनुष्य ही करते हैं, और जब करते हैं तो अपनी प्रत्यङ्मुख चेतना को ऊह्य रखते हुए करते हैं, जो अन्य प्राणियों में नहीं दिखती।

हम कर्तृत्व की बात करें, जिसके मूल में श्रेय–बोध होता है, तो विषयित्व का – और यो विषय–विषयि–भाव का – तारतम्य और भी प्रखर, प्रक्रांत रूप से आगे आता दिखता है। अन्नमय वनस्पति से उठ कर प्राणमय जीवों के सोपान चढ़ता विषयित्व मनुष्य में एक अपूर्व विस्फोट के साथ उत्क्रांत हो जाता है, उसमें श्रेय का, धर्म का, औचित्य–बोध का, अब तक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनहोना आयाम घर कर लेता दिखता है। इसकी कुछ विस्तार से बात हम आगे करेंगे। पर ज्ञान को ही लें, और ज्ञान को प्राणिमात्र की जिजीविषा के लिये अनिवार्य भी मानें, तो भी प्रकट ही मनुष्य–भिन्न प्राणी में ज्ञातृत्व जैसा कोई स्वतंत्र व्यापार नहीं होता। मनुष्येतर विषयित्व स्वरूपेण पराङ्मुख रहता है। वहां ग्राहक विषयित्व में ग्रहण का ऐसा स्वतंत्र व्यापार नहीं उभरता जिसमें गृहीत विषय के स्वरूप की जिज्ञासा हो, संधान हो, विमर्श हो, मीमांसा हो। मनुष्येतर जीव में जिजीविषा और तन्निहित भोग ही प्रधान है, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व की यहां बात भी करें तो इन्हें भोग–विवश ही कहा जा सकता है। हममें भी यह विवशता होती ही है, पर इससे ऊपर उठता अंकुर भी रूप लेता दिखता है, तभी ज्ञातृत्व और कर्तृत्व उपादेयता और जिजीविषा के हानोपान मात्र से स्वतंत्र हो पाते हैं। अपनी स्वतंत्र प्रमाण–यात्रा बनाते हैं : वस्तु–अवस्तु की, और इस भेद को साधते विवेक की बात करते हैं।

पर विप्रतिपत्तियों में भी उलझते हैं। क्योंकि हममें स्वतंत्र प्रमाण–व्यापार होने का अर्थ यह भी नहीं कि हमारा पशु–भिन्न जागरूक विषय–विषयि–भाव हमारे लिये जगत् को ठीक उस रूप में प्रस्तुत करता है जो उसका अपना रूप है! यह प्रस्तुति संभव नहीं दिखती, क्योंकि जगत् बनता ही विषय–विषयि–भाव से है, और इस भाव में भेद–वैविध्य निहित जान पड़ता है। हम इस भाव की वेष्टनी से बाहर निकलने की कल्पना भर कर सकते हैं, निकल नहीं सकते। हम इतना ही कह सकते हैं कि जिसे हमने ऊपर विषयी का विषय–सात् जगद्भाव कहा, हम (मनुष्य) उसमें नितांत निमज्जित नही रहते, हमारी प्रत्यङ्मुख चेतना उस भाव से तटस्थ रह कर उससे ऊपर आँख कर सकती है। पर उसकी आँख विचार की आँख होती है, जो विषयि–भाव की ही एक मुद्रा है, या एक भंगी या विभाव कहिये, और इस बात को वह जानती है। और विचार की दृष्टि में भेद का वैविध्य गहराता ही दिखता है। घोर विरोध और विप्रतिपत्तियों में उलझता है। इस गुत्थी से निकलने का भी कोई रास्ता बनता नहीं दिखता। क्योंकि जगत् – या जगद्भाव बनता ही विषय–विषयि–भाव के अविच्छेद्य मिथुन से है।

हां, हम जगत् के – या कहिये विषयमात्र के – अपने आप में स्वस्थित, स्वतंत्र होने की बात कर सकते हैं। करते हैं। बल्कि विषय को विषय समझते इसी रूप में हैं, इसीमें उसका विषयत्व देखते हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह विषयि–अस्पृष्ट होता है, या हो सकता है। विषय अगर स्वरूपेण विषयि–असंस्पृष्ट हो तो उसकी जानने की बात तो दूर, उसकी विषयत्वेन होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर, इस कल्पना के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लिये भी विषयी का होना ही पर्याप्त नहीं है, विषयी का आत्मचेतन – और यों प्रत्यङ्मुख – होना आवश्यक है। ऐसे विषय–विषयि–भाव के बिना भी विषय की – विषय के स्वस्थित स्वातंत्र्य की – बात नहीं की जा सकती; और न विषयी की ही बात की जा सकती है। पर विचार–कल्पना की प्रत्यङ्मुखता का आत्मदर्शन निःसंग, वीतराग ही नहीं होता, बड़ा विभज्य–प्राण, होता है, द्वंद्व–बोध में पलता है : बुद्धि विषय को विषय से अलग कर और विषयी को विषय से दूर करती हुई ही विमर्श करती है तो विमर्श–भेद पालती हुई करती है, क्योंकि यह व्यापार ही बहुभंगिम होता है। विप्रतिपत्ति, विपर्यास विचार में स्वभावनिष्ठ हैं। विचार–बुद्धि होती ही विभज्य–बुद्धि है।

पर बुद्धि विषय और विषयी को परस्पर–विभक्त कर विशुद्ध विषय की ही नहीं, विशुद्ध विषयी की भी कल्पना कर सकती है। हम विषय और विषयी को विभक्त कर, इनमें निहित युगनद्धता से हटा कर, इन्हें इनकी विशुद्ध अनन्यता में देखने की ओर बढ़ सकते हैं। यहां भी आँख विचार–विषयी की ही होती है। पर यहां आकर फिर यह भी कह सकते हैं कि इस आँख के लिये विशुद्ध विषयित्व की कल्पना विशुद्ध विषयत्व से कहीं सार्थक और युक्ततर ठहरती है : क्योंकि कल्पना – कोई भी कल्पना – होती ही विषयी की है। विषयी और उसकी आत्म–अवगति के बिना अकल्पनीय है। विषयी को सहज ही निर्विषय, 'विषय–भाव से ही सर्वथा रहित' रूप में देखा–सोचा जा सकता है। पर विषय के साथ ऐसा संभव नहीं। विशुद्ध विषय विशुद्ध अंधता के प्रत्यंत की ओर ही बढ़ता दिख सकता है। उसे हम अपने आप में अनिर्वाच्य या स्वरूपेण अज्ञेय भी कह लें तो भी यह कहना विषयी का ही होता है। ये ज्ञान की कोटियां हैं, विषयी की कोटियां हैं। ऐसे – या किसी भी – ज्ञान की बात विषयी चेतना चेतना की आत्मोन्मुखता को ऊह्य रखती है, और यह आत्मोन्मुखता निर्विषय विषयी को तो संभव बनाती उभरती है, पर निर्विषयि–विषय को बिलकुल नहीं। हां, हम विषयी को भी पाते विषय रूप में ही हैं, पर इस पाने के भीतर ही उसे अपने–पीछे–हटता, अपने–ऊपर–उठता प्रत्यङ्मुख पाते हैं, मानो अपने विषय–निरपेक्ष केवली रूप की ओर जाने को उन्मुख हो। तभी हम विषय के परे विशुद्ध निर्विषय विषयी की बात कर सकते हैं।

पर हम अगर निर्विषय विषयी की बात कर सकते हैं तो उतने ही युक्त–भाव से विषय–विषयि–भाव से ही निकल जाने की, तत्–परत्व की, बात भी कर सकते हैं। विषय–विषयि–भाव से मुक्ति को ही बुद्धानां विषय :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहते हुए परम सत्य कहा ही गया है। विचार में – दर्शन में – विशुद्ध विषयित्व की और विषय–विषयि–भाव से परत्व की, दोनों ही बातें की गई हैं। पर हम ऐसी बातों का उत्स खोजें तो विचार से ऊपर उठना होगा। अध्यात्म की ओर बढ़ना होगा। इसका भी इंगित हम चेतना की प्रत्यङ्मुखता में पाते हैं। इस प्रत्यङ्मुखता के साथ एक ओर जहां एक पूरा निरिन्द्रिय विषय–जगत् उन्मिषित होता है, वहीं दूसरी ओर यह चेतना सब कुछ से हट कर, द्वंद्व मात्र से मुक्त हो, अपने निर्विशेष आत्म की ओर बढ़ने की आकूति पालती दिखती है। सच पूछिये तो हममें श्रेयबोध का यही मर्म उभरता है, यही उसकी प्रेरणा का प्राण जान पड़ता है। और तभी विचारोर्ध्व अध्यात्म चेतना की बात सार्थक है : जो अपने तत्त्व को समझने–समझाने के लिये निर्विषय विषयी की, विषय–विषयि–भाव से ही निकल जाने की बात करती हैय पर यह जानते हुए कि बात अनिर्वाच्य है, अनिर्देश्य, गुह्य रहस्य है। तभी उसे न–सत्–न–असत् जैसे शब्दों में व्यंजित करने की वाणी अपनाती है।

हम अध्यात्म–चेतना को साक्षी बना कर देखते हैं तो यह ऊह हमें गहराई से उपलब्ध होता है कि जगत् – या कहिये जगद्भाव – यह वास्तव में है ही नहीं। माया है, मिथ्या है। इसका दिखना आपात–दर्शन मात्र है, और वह भी हमारी वासना–कल्पना द्वारा आक्षिप्त, या कहिये निर्मित! हम जिस एक 'सामान्य, विषयी मात्र को प्रदत्त' वस्तु–जगत् की बात करना चाह रहे हैं, उसे ही यहां माया कहा जा रहा है : वह विषयित्व का भ्रम है, या स्वप्न कहिये। अनायास सोचा जा सकता है कि भिन्न प्राणिगत जगत् भिन्न विषयित्व की भिन्न जगत्–कल्पना के आक्षेप हैं। तो फिर जगत् – या कहिये जगद्भाव – मात्र का मिथ्या कल्पना होना सहज चिन्त्य है। यह तो स्पष्ट उभरता है कि जिसे हम जगत् कहते हैं, वह विषयी को विषय–रूपेण प्रदत्त होता है : विषय–विषयि–भाव में रूप लेता है। और भिन्न होता है तो विषय–विषयि–भाव के भेद के साथ भिन्न होता है। यों यह कल्पना नितांत कपोल कल्पना भी नहीं कि जगत् का अपना कोई वस्तुत्व नहीं, क्योंकि वह विषय–विषयि–भाव की सापेक्षता में उभरता है, और विषय–विषयि–भाव एक नहीं, उसके भीतर स्वगत–भेद का संभार है। यों विषय–विषयि–भाव ही एक छलना जैसा रूप लेता दिख सकता है : मिथ्या या माया। पर फिर यह भी सोचिये कि विषयी के लिये विषय क्या है, उसके के स्वरूप की खोज, वस्तु की ही खोज बनी रहती है, चाहे वस्तु का स्वरूप पकड़ से बाहर ही क्यों न रहता हो।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और यह भी सोचिये। माया; मिथ्या, कल्पना.... की ओर झुकते विचार में 'होना' ही एक विचित्र प्रपंच में पड़ कर अपनी सार्थकता खो देता लगता है। 'है', 'नहीं है', ये खोखली विचार–मात्र–सार कोटियां हो जाती हैं। सहज ही प्रश्न जागता है कि फिर विचार का ही होना क्या? हम ही क्या? हमारा ही होना क्या? हमारी चाह ही नहीं, हमारी जिज्ञासा, हमारा श्रेयबोध, हमारी साध्यता – जिसे अध्यात्म भी ऊह्य रखता है – ये तर्क के चक्र में उलझ कर अपना मर्म, अपना सार खो देते हैं। ऐसे विचार का अगर कोई हमें–भीतर–से छूता इंगित बनता है तो यह कि होना एक (अनहोना) आश्चर्य है, रहस्य है। पर इस बात को तो विचार अपने निगूढ़ हृदय में मान कर ही चलता है। हमारी कोई भी गहरी जिज्ञासा अपने विषय के रहस्य होने को ऊह्य रखती है। और यों भी, हम अपने (विषय–विषयि–भाव में रूप लेते) अनुभव को, जिसमें विचार रूप लेता है, 'है', 'नहीं है' जैसी किसी भी कोटि में रखें, पर रहते–होते अपने अनुभव में ही हैं, उसीमें रह कर उसे और उसकी अनुभूतियों को – जगत् को, आत्म को, व्यवहार को, परमार्थ को – समझना–परखना चाहते हैं। उसमें रहते हुए साध्य होते हैं : श्रेय चाहते हैं, साधते हैं। 'होना' और होने की चतुष्कोटि ('है', 'नहीं है' 'है भी नहीं भी है', 'न है न नहीं है') का अर्थ केवल कोरा तर्कगत हो तो इन कोटियों का कोई अभिप्राय नहीं बनता, जब तक ये जीवंत प्रश्न बन कर हमारी अपने होने की पहेली के अंतः से नहीं उठते।

हम अपने होने को ही न–होने के रूप में देखते–पाते हैं : क्योंकि हमारा होना सिद्ध नहीं, साध्य होता है। और इस दृष्टि से देखें तो जगत् को भी हम सिद्ध नहीं, पाते हैं। हम और जगत्, हैं ही नहीं, होते रहते हैं, और हमारे होने के प्रश्न की तीक्ष्णतम अनी यह होती है कि हमारे होने का – होते रहने का – व्यापार कोई अर्थ रखता है क्या, किसी श्रेय की ओर उन्मुख है या नहीं? जगत् में हम जड़ प्राण चेतना आत्मचेतना – विषय–विषयि–भाव की उत्क्रमण–करती भूमियां बनती देख सकते हैं, जो अनागत संभावना के अगाध की ओर संकेत करती हैं। जो लोग विषय–विषयि–भाव को ही कल्पना मानते हैं, या (विज्ञान–निहित जड़वाद के आधार पर) उसे परमाणु–संघात की यादृच्छिक उपज समझते हैं, उनके लिये यह यात्रा मिथ्या प्रपंच या विवर्त ही ठहरती दिखती है। पर यह युक्त नहीं जान पड़ता। इस यात्रा के बिना, या यों कहिये कि इस यात्रा में हम जहां हैं, वहां हुए बिना, न अध्यात्म की बात की जा सकती है, न विज्ञान की। इस यात्रा में अर्थबोध, श्रेयबोध, विचार के साथ ही उभरता है; इन्हें विचार की कोटि से बाहर निकाल दें तो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचार–व्यापार ही पंगु हो जाता जान पड़ता है। और यह भी देखिये : जो लोग जगत् को मिथ्या या कल्पना कहते हैं, उनके मन में भी प्रश्न श्रेय का ही होता है। इसी प्रश्न को हृदय में रखते हुए वे जगत् को मिथ्या कहते हैं। तभी वे जगत् को मिथ्या ही नहीं, 'दुःख', या 'तुच्छ' या 'फल्गु' भी कहते हैं।

(4)

ऊपर हमने ज्ञातृत्व के प्रसंग में अंतः की प्रत्यङ्मुखता पर कुछ विमर्श किया। प्रकट ही इस प्रत्यङमुखता को हम विचार में सर्वाधिक स्फुट पाते हैं। भाषा जो विचार की धरती है, वह भी इस प्रत्यङ्मुखता में ही उभरती है। भाषा सहज ही सामान्य होती है। भाषा की सामान्यता विचार में स्फुटतम रूप लेती है। अपनी प्रत्यङ्मुखता के असीम अगाध को भी हम विचार में प्रकटतम पाते हैं। पर अवधेय यह भी है कि भाषा केवल शब्दों में नहीं होती : कलाओं में वर्ण, स्वर, आकृति.... भाषा–सम प्रतीक–भाव और संकेतात्मकता रखते हैं। इस बात को ध्यान में रखें तो विचार को भी व्यापकतर रूप में देख–परख सकते हैं। इसकी सार्थक चर्चा का अवसर आगे आयेगा।

साधारण रूप से हमारी दैनंदिन प्रयोग की भाषा सामान्य होती हुई भी बाह्य जगत् पर अवलंबित–सी दिखती है। पर विचार में भाषा की सामान्यता इस अवलंबन से स्वतंत्र होती प्रकट होती है। प्रत्ययों का अपना स्वाधीन साम्राज्य खड़ा करने लगती है। विचार–करता विषयी–मैं व्यवहार के संसार का व्यक्ति–विषयी रहता ही नहीं, सहज ही व्यक्ति–सामान्य हो जाता है। मैं अपने 'विचार में इस बात को उभरता देखता हूं। 'मैं विचार कर रहा हूं, इस बोध में स्पष्ट ही मैं अपनी अस्मिता को विचार–कर्म के एक केन्द्र, एक नाभि–विशेष के रूप में उपलब्ध करता हूं : अन्यथा जो मैं कर रहा हूं वह विचार नहीं होगा क्योंकि उसमें यौक्तिकता का, प्रामाणिकता का बोध नहीं होगा। मेरी चेतना में प्रकट हो कर विचार आत्मचेतना की ही सामान्यता को प्रकट करता है। मुझमें होती हुई भी विचार–चेतना मेरी नहीं होती : किसी विविक्त अन्य–व्यावृत्त 'केवली' मैं की – या स्व की – नहीं होती विचार–चेतना। या कहिये, 'हमारी' होती है : मानव–चेतना की सामान्यता में व्यापृत होती है। तभी 'मैं विचार करता हूं' इस बोध में मैं यह पाता हूं कि विचार मुझे केन्द्र या निमित्त बना रहा है। अपने स्व के कुंचन से निर्बंध हो कर ही मैं ऐसा केन्द्र होने का अधिकारी बनता हूं : यह पाता हूं कि विचार–करता 'मैं' मेरे सुख–दुख–इच्छा–वासना के सीमित स्व से ऊर्ध्व रहता है – या रहना चाहता है : विचार में हम सहज ही अपने विषयित्व को ही अपने व्यक्ति–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषयी की सीमा से परे, निर्वैयक्तिक सामान्य की ओर बढ़ता पाते हैं। उसकी यह प्रवृत्ति मुझे अनुभूत होती है। ऊपर हमने 'मैं' की सर्वनामता की बात की। यह विचार में स्व–स्फुट रूप लेती दिखती है, सामान्यतम भावेन आत्मप्रकट होती है।

विचार सहज ही अपना द्रष्टा–परीक्षक भी होता है। आत्मविमर्श की संभावना के साथ ही रूप लेता है। विचार की यह अपने–आपको–देखती–जाँचती, अपने–आप–से–प्रश्न–करती, स्वदृष्ट, स्वपरीक्षक प्रत्यङ्मुखता अथाह होती है। इसे दर्शन में स्वप्रकट देखा जा सकता है, क्योंकि दर्शन विचार की ही नहीं, विषयी की ही अगाध आत्मावलोकी प्रत्यङ्मुखता का गहनतम स्वच्छ–स्फुट लक्षण है। पर यों भी अपने को विषय बनाता विचार एक सहज आत्मनिविष्ट विषय–विषयी भाव में घर करता है : अपने को पाता हुआ ही 'होता' है। अपने को 'जानता' हुआ होता है। पर इस व्यापार में यह भी झलकता रहता है कि अपने को विषय बनाता हुआ भी विचार स्वरूपेण विषयी ही होता है : अपने पर विचार करता हुआ अपने विचार्य–रूप को विषय के रूप में पाता हुआ भी उसे अपने विषयित्व के ही अंग के रूप में पाता है। आत्मचेतना का द्वित्व यहां क्षीण होता दिखता है। बल्कि कह सकते हैं कि अपने पर विचार करता हुआ विचार हमारी आत्मचेतना के द्वित्व को इस रूप में आत्मप्रकाशित करता हुआ रूप लेता है जहां विषय मानो विषयी से उद्भूत, परिस्फुट होता आगे आता है। अपनी प्रत्यङ्मुखता में प्रतिष्ठ रहता हुआ पराक्–उन्मुख होता दिखता है विचार।

यों देखिये। विचार का विषय विचार–विषयी के कुक्षिगत होकर ही 'विचार–का–विषय' बनता है : विचार के विषय का स्वरूप ही विचार के भीतर निर्णीत होता है। और इस व्यापार में विचार की पकड़ जितनी व्यापकता और गहराई में व्यापृत होती है, विचार उतना ही अपने पीछे हटता हुआ ही अपने विषय को भी अपने भीतर समेटता चलता है। विषय से विचार का संबंध एक विचित्र भेदाभेद लिये दोमुँहा होता आगे आता है : विचार जितना विषय की ओर एकाग्र और उदग्र होता है, उतना ही अपने भीतर और समाता चला जाता है; यों विषय को जितना अपने से अलग करता है उतना अपने में ही पाता है। एक ओर विचार अपने विषय से तटस्थ हो कर, उसे स्वतंत्र सत्ता देता दीखता है : तभी विषय विचार द्वारा परीक्ष्य हो पाता है; अवगाह्य हो पाता है। पर वहीं, इसी प्रक्रिया में ही, दूसरी ओर, विचार विषय को अपने और भीतर समोता चलता है : विषय विचार–विषयी का अंतरंग होता जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहना न होगा कि विचार–व्यापार प्रत्ययों में – सामान्यों में – होता है। तो, सहज ही आगे आता है कि सामान्य छोटे–बड़े होते हैं; उनमें एक सहज सोपान–भाव होता है, जहां छोटा व्यापकतर होता हुआ, अपने ऊपर उठता हुआ, बड़े में अपचित होता जाता है : जैसे कम्प्यूटरत्व यन्त्रत्व में, यन्त्रत्व मनुष्य–निर्मितत्व में और यह विशेष निर्मितत्व निर्मितत्व मात्र में और यह क्रम अंततः उस परम सामान्य तक पहुँचता है जो अव्याकृत भी होता है, और जिसकी व्याकृति (विचार के अपने विषय–ग्राही प्रयोजनों के लिये) कई तरह से की जा सकती है। बल्कि कह सकते हैं कि सामान्यों की बहुधा व्याकृति सामान्य प्रत्ययों से किये जाते विचार–व्यापार में स्वनिहित है। विचार अपने प्रयोजनों से ऐसा करता ही रहता है, और उसके प्रयोजन अनेक हैं। ऐसी बहुधा व्याकृति करना विचार की विषयोन्मुखता का स्वधर्म ही उभरता है। पर हम फिर विषय को – विषय के सत्य को, विषय के वस्तुत्व को – सहज ही विचार के भीतर ही 'बनता' भी देख सकते हैं – उसे विचार से 'निकलता' – उद्भूत होता – देख सकते हैं। यों विचार को अव्याकृत सत् की व्याकृति के रूप में भी देखा जा सकता है। पर यह ऊह का संभावनामय, कल्पनामय व्यापार है। यह व्यापार विषय के सत्य का संधानी होता हुआ भी नितांत भिन्न, नितांत परस्पर–विरोधी दिशायें लेता है, जहां वस्तु के, वस्तुमात्र के, निषेध का आशय भी रूप ले सकता है : विचार–कल्पना में अन्यथात्व की संभावना अपार है। यह बात अनायास जागती है कि अंततः जो कुछ है, वह नहीं भी हो सकता था, सर्वथा कुछ और हो सकता था। विचार सत् की ही खोज करता है, पर अपने उसके लिये यह प्रश्न ही बना रहता है कि सत् क्या है? है भी क्या? फिर यह भी सोचिये कि जो पर–सामान्य है, वह अव्याकृत है तो अनिर्धार्य भी है। और अनिर्धार्य को सत् या असत् (या सत्–भी–असत् भी, न–सत्–न–असत्) किसी कोटि से बाँधा नहीं जा सकता। और इसीलिये किसी भी कोटि में रखा भी जा सकता है।

तो, विचार में एक विरोधाभास उभरता दिखता है जिसे विचार–व्यापार का मर्म कह सकते हैं : विषय अगर स्वतंत्र, स्वप्रतिष्ठ न हो तो विषय नहीं होगा, पर अगर वह विचारसात् न हो तो उसका विचार्य के रूप में 'होना' ही नहीं बनेगा; उसे हम अचिन्त्य, अज्ञेय तक भी नहीं ठहरा पायेंगे; उसे स्वतोविरुद्ध या निरर्थक भी न कह पायेंगे। क्योंकि वह फिर हमारे लिये होगा ही नहीं। हम कल्पना कर सकते हैं (और कल्पना के बिना विचारसंभव नहीं) कि विचार के बाहर कुछ है; यही नहीं, हम यहां तक सोच सकते हैं कि विचार–बाहर 'जो' है, 'जैसा' भी है, वही 'वास्तव' में है, क्योंकि विशुद्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषयत्व उसीमें हो सकता है, विचार–विषय को तो हम विचार–भीतर ही पाते हैं, विचार–उपहित, विचार–रंजित, विचार–आक्षिप्त पाते हैं। पर अगर ऐसा कुछ है तो 'वह' क्या है, इस पर विचार ही कुछ कह सकता है! अध्यात्म अनुभव जो विचार के परे की अनुभूति का 'साक्षी' होता है, सब कुछ के परे की, विचार के भी परे की पकड़ रखता है, वह भी इस 'बाहर' को समझना चाहता है, उसकी 'बात' किये बिना नहीं रहता, चाहे स्वतोविरोध–भरी भाषा अपनाते हुए, व्यंजना में अपने 'विचार' का प्रकाश करता हो (जैसा हम उपनिषदों में, और अन्यत्र, पाते ही हैं)। इसे यों भी कह सकते हैं कि विचार, जो पलता ही द्वंद्व में है, यहां द्वंद्व में पलते विरोध का परिहार कर देने का मार्ग अपनाता है। अंततः तो द्वंद्व के परस्पर–प्रतीप युगल में एक अंतःनिष्ठ परस्परता होती है, जिसे उस द्वंद्वं की धरती कहा जा सकता है, जो उस द्वंद्व को आधार देती है, उस द्वंद्व को 'वह' द्वंद्व बनाती है। यह बात विचार में प्रकट रहती है। या फिर विचार ऐसे निःस्वभाव, निर्विषय शून्य की ओर या ऐसे होने की ओर इंगित करता है जिसका होना–न–होना एक हो। या उसे, कबीर के शब्दों में, 'जो है सो है' भी कह दिया जा सकता है। पर ऐसा कुछ भी कहना उसे विचार–अविषय रखते हुए भी विचार–विषय बना कर ही संभव होता है। इसे विचार की ही एक मुद्रा के रूप में देखना चाहिये। जो कहा नहीं जा सकता उसे कहने की आत्मोल्लंघी प्रेरणा।

यह प्रेरणा विचार की प्रत्यङ्मुखता में ही पलती है। विचार में अपने 'बाहर' की, अपने से 'परे' की, उन्मुखता सहज देखी जा सकती है। अपने से परे की यह उन्मुखता विचार की विषयोन्मुखता जितनी ही गहरी भी होती है। तभी विचार को हम आत्म–स्फुट भाव से विषय–विषयि–भाव में बँटता हुआ 'देख' पाते हैं (यही विचार की आत्मस्फुटता, उसकी पारदर्शिता, है)। विचार–विषयी विषय–मुख होता हुआ भी विषय–मुक्त होता है, नहीं तो विषय के स्वरूप का अन्वेषण ही संभव नहीं। अपने विषय से परे खड़ा रहता है विचार, क्योंकि अपने से भी परे खड़ा रहता है। तभी विषय को हम विषयिसात् ही नहीं, विषयी से उभरता – उद्भिन्न होता हुआ – पाते हैं। विचार की विषय–मुक्तता ही उसे स्वतंत्र बनाती है। तभी संभावनामय होता है विचार, ऊह–कल्पना में पलता हैय और इस रूप में हमें अवगत रहता है। पर तब विषय को विचार का सर्जन भी कहा जा सकता है। हम अपनी सभी वृत्तियों में सर्जन की संभावना पाते हैं, पर विचार में यह व्यापार अन्य वृत्तियों से अधिक स्फुट ही नहीं, मानो स्वसृष्ट होता दीखता है। साधारणतः हम विचार को विचार–विषय से तटस्थ पर साथ ही विषयोन्मुख, विषयलीन, पाते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं। पर थोड़ा भी मनन करें तो विचार–विषयी को हम विषय की ओर झुका पाते हुए भी अपने विषयित्व के चरम की ओर (चित् की ओर) यात्रा करता देख सकते हैं। यहां चेतना की आरोह–अवरोहमयी एक विराट् यात्रा भी उभरती दिख सकती है, जहां एक ओर, अपने अवराह में, विषय विषयी से उद्भिन्न, विकीर्ण होता दिखता है तो दूसरी ओर आरोह करता हुआ विषयी–मुख होता उभरता है।

पर, फिर यह भी देखिये कि विचार जितना प्रत्यङ्मुख होता है, विषय भी उसके लिये उतना ही अथाह होता जाता है, अनंत पक्षों में, संभावनाओं में, उन्मिषित उभरता है। और अवगाहन के इस क्षितिज के साथ ही विषय की अनवगाह्यता भी प्रकट होती है। पर इसे विचार की ही अनवगाह्यता का एक पक्ष समझना चाहिये।

विचार हमारी सब वृत्तियों पर व्यापक है। हमारी ऐसी कोई वृत्ति नहीं जो विचार के माध्यम से समृद्ध न हो सकती हो। आत्मपरीक्षा करती हुई अपने आप को आत्मस्फुट न कर सकती हो, और विचार के माध्यम से अपनी संभावनाओं में उतरती हुई आत्मोन्मेष की ओर अधिक जागरूक भाव से उन्मीलित न हो सकती हो। पर विचार–चेतना को शब्दमयी भाषा–चेतना तक सीमित रखना भी उचित नहीं। विचार–चेतना ज्ञातृत्व में ही नहीं होती, भावयितृत्व (या अनुभोक्तृत्व, अनुभावयितृत्व कहिये), इनमें भी होती है विचार–चेतना। कर्तृत्व में भी होती है। या यह कहिये कि इनकी अपनी तरह की प्रत्यङ्मुखता होती है, जिसका अपना आत्ममनन, आत्मविमर्श होता है। इस पर हम अब आगे कुछ विचार करेंगे।

(5)

'ज्ञाता और कर्ता मैं की सामान्यता तो प्रकट रहती है। यह भी प्रकट रहता है कि इनकी सामान्यता हमारे विषयित्व की प्रत्यङ्मुखता में घर करती है : ज्ञान और कर्म परीक्षा (प्रमाण) की मांग करते हैं, और परीक्षा अपनी परीक्षा करती अपने पीछे हटती चलती है। इस व्यापार में हम पाते हैं कि विषयी जितना प्रत्यङ्मुख होता जाता है, उसकी सामान्यता उस पर उतनी ही प्रकट होती चलती है, या कहिये, आत्मप्रकट होती चलती है। पारदर्शी होती चलती है।

आत्मचेतन ज्ञातृत्व की प्रमाणोन्वेषी स्वतंत्र विषयिता के साथ हमारी जिज्ञासा के लिये नये विषय–लोक उभरते हैं जो स्पष्ट ही इन्द्रिय–सापेक्ष नहीं होते : दर्शन, कला, गणित, विज्ञान.... (जिनकी हमने ऊपर चर्चा की)। इन विषयों में भी विषयत्व की सामान्यता रहती है, प्रामाण्यता की तलाश रहती है। हां, ये मनुष्य को ही प्रदत्त हैं, प्राणिमात्र को नहीं। पर इससे ये

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अविषय या पुरुष–तंत्र नहीं हो जाते (जैसा हम देख आये हैं)। हमारा वस्तु–तंत्र कहलाता इन्द्रिय–जगत्–बोध इनको ऊह्य रख कर ही बनता है। अगर हम कहें कि जो इन्द्रिय–दत्त नहीं है, उसके 'होने' की बात नहीं की जा सकती – जैसा कि हम अकसर कहते ही हैं, तो इस कथन में पूर्वाग्रह – या चक्रक, या अन्योन्याश्रय – प्रकट है : "है' वही जो इन्द्रिय–प्रदत्त है, और यों देश–काल–गत है, ऐन्द्रिक–जगत्–गत है'। इस रूप में जगत्–गत होना अगर होने के शर्त हो तो बुद्धि–विषयों को 'नहीं हैं' की कोटि में ही रखना होगा, या विकल्पमात्र कहना होगा। पर सच यह है कि इन्द्रियगत विषय भी बुद्धि–गत होता हुआ, या कहिये बुद्धिविषय होता हुआ ही ज्ञान और विमर्श का विषय होता है। बुद्धि–विषयों को अगर हम मनुष्य–गत कहते हुए मनुष्य–बुद्धि–सापेक्ष कहें तो इन्द्रिय–विषयों के लिये भी ऐसा ही कहना होगा। इससे ये विषय के रूप में अ–स्वतंत्र नहीं हो जाते – या कहिये 'वस्तु–तंत्र' विषयत्व से च्युत नहीं हो जाते। उलटे, इन्द्रिय–प्रदत्त विषय को ही विषयत्व की कोटि में रखती बुद्धि–दृष्टि पर प्रश्न उठाते हैं।

यह ठीक है। इसकी चर्चा हम कर आये हैं। पर हमने कला को भी बुद्धि–विषयों में गिना है। अनायास ही प्रश्न होगा : कला को क्या विषय कह भी सकते हैं। कला में विषय की प्रदत्तता कहां? वह तो हमारी निर्मिति है, प्रदत्त भी होती है तो निर्मिति के रूप में प्रदत्त होती है। तब अपनी तरह का विषय बनती है, पर उसकी मूल प्रेरणा का विषयत्व से संबंध नहीं। तो कला को ज्ञातृत्व की कोटि में नहीं रखा जा सकता। उसका लक्ष्य ज्ञान (विषय के सत्य का संधान, बोध) है ही नहीं। उसका लक्ष्य रंजन है, या रस कहिये। या उसे विषयित्व की स्वप्रस्तुति कह सकते हैं। विषयी अपने आप को ही उसमें पाता है, विषयि–रूपेण ही पाता है, विषय बन कर नहीं।

हमने बुद्धि–विषयों पर ऊपर जो कहा है उसमें यह ध्वनित जान पड़ता है कि सारे ही बुद्धि–विषय हमारे ज्ञातृत्व के अंग होते हैं। हमने यह भी देखा कि अन्तः का अपना जगत्, अपना विस्तार है। अंतः को विषय बनाते हुए ही हमने ऐसा कहा। पर हमारे अनुभव में अंतः विषय होता हुआ भी विषयी होता है। मेरा विचार ही नहीं, सुख–दुख, इच्छा, प्रयत्न...., ये विषयी के रूप में ही 'मेरे' होते हैं, या यों कहिये कि मैं इन्हीं में होता हुआ विषयी होता हूं। यों अपने विषयित्व को मैं विषय रूपेण ही नहीं, विषयित्व में रहता हुआ भी पाता हूं। कला में मैं उसे पाता ही नहीं, देखता, परखता हुआ पाता हूं। आत्मचेतन होता है कला–बोध; स्पष्ट ही एक अपनी सी प्रत्यङ्मुखता होती है उसमें। यो उसे विचार के एक आयाम के रूप देखना कृच्छ्र–कल्पना नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसे ज्ञातृत्व–भिन्न भावयितृत्व – या भावन का, या अनुभव का ही– प्रत्यङ्मुख आयाम कह सकते हैं। इसे ही हम कला में प्रकट देखते हैं। पर अवधेय यह है कि भावन के इस क्षेत्र का भी स्पष्ट ही अपना विमर्श होता है। यह इस बात से भी ध्वनित है कि इस की अभिव्यक्ति का माध्यम भी भाषा होती है। 'भाषा' के माध्यम को शब्दमयता तक सीमित रखना उचित नहीं। कला के माध्यमों को भी भाषा कहना ही युक्त है। इनकी अपनी प्रतीक–व्यवस्थायें होती है जो भाषासम होती हैं, और जिनके माध्यम से ऊह, और ऊह की संगत, परीक्ष्य – दूसरे शब्दों में प्रमाण–सापेक्ष – या 'युक्त', अभिव्यक्तियां, निर्मितियां साधी जाती हैं। तभी, कलाओं की अपनी प्रतीक–व्यवस्था ही नहीं होती है, इनके 'व्याकरण' की भी बात की जा सकती है; की जाती है। इन 'भाषाओं' के 'अर्थ' भी शब्दमयी भाषा की तरह ही सामान्य प्रत्यय ही होते हैं – चाहे भाषा की तरह अभिधा में प्रतिष्ठ न होते हों। ये व्यंजना का सहारा लेते हैं। इसलिये इनमें होती 'अवगति' को 'ज्ञान' कहने से हम कतराते हैं : क्योंकि ज्ञान विषय का होता है और अभिधा के बिना 'विषय' की बात नहीं की जा सकती। कला में विषयी ही सम्मुख रहता है, विषय नहीं, और जिसे हम विषय कहते हैं, हमारा दृश्य–जगत् हमारे व्यवहार का संसार, वह प्रस्तुत हो भी, जैसे कि कथा–उपन्यास में – तो भी वह वास्तव में अभिहित नहीं होता, उसका उद्देश्य विषयित्व को प्रस्तुत करना ही होता है। तभी हम यहां व्यंजना की बात करते हैं।

पर यहां लक्ष्य करने बात यह भी है कि है कि इस व्यंजना–लब्ध अर्थ को 'ज्ञान' के रूप में भी देखा जा सकता है। और यह उचित भी है, क्योंकि कला में विषयित्व का स्व–बोध अपने मर्म में 'आत्मावगति', और यों 'आत्मज्ञान' का रूप लेकर उभरता है : यहां भी विषयी अपने को 'जानने' की ओर प्रवृत्त होता है, और यह 'जानना' जिस तटस्थता की मांग करता है उसे सहज ही ज्ञातृत्व के रूप में देखा–समझा जा सकता है।

अब, इस व्यापार को 'ज्ञान' कहने में अनायास आपत्ति हो ही सकती है : ज्ञान में विषयीज्ञविषय भाव होता है, विषयी विषय की ओर उन्मुख होता है, जबकिं यहां विषयिज्ञविषयि–भाव होता है, विषयी अपनी ओर ही उन्मुख रहता है। तभी इसे हमने ज्ञान–भिन्न भावयितृत्व की कोटि में रखा है। पर इसकी ज्ञान से साधर्म्य की उपेक्षा उचित नहीं, जैसा कि किया जाता है; किया जाता रहा है। क्योंकि सार की बात यह है कि इस विषयि–विषयी उन्मुखता का भी अपना प्रमाण–विवेक होता है, निकष होते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं, और ये 'विचार' की तरह ही प्रत्यङ्मुख होते हैं, आत्मपरीक्षा, आत्मविस्तार करते हुए अपने भीतर उतरते हैं। कल्पना का विचार की तरह ही प्रयोग करते हैं। इसे विचार का एक प्रकार कहते संकोच नहीं होना चाहिये।

इसे ज्ञान से अलग करें या न करे, भोग से अलग करना अपेक्ष्य है। ऊपर हमने भोग की भी प्रत्यङ्मुखता की बात की है। भोग भी अपने को जाँचता, परखता है, अपने शिल्प साधता है, और ये प्रत्यङ्मुखता की अपेक्षा रखते हैं। पर यह देखिये कि भोग में हम अपनी अस्मिता में नहीं होते। अस्मिता हमारे जिस सीमित स्व के कुंचन से उठ कर बनती है, प्रत्यङ्मुख हो कर सामान्यता में स्थित होती है, या यों कहिये कि आत्ममुख हो पाती है, उसे हम भोग में विगलित होता पाते हैं : तभी कहते हैं कि 'हमने भोग नहीं भोगे, भोगों ने हमें भुगता'।

फिर भोग के संदर्भ में भाषा की बात सार्थक नहीं ठहरती। तभी भोग में आत्मविमर्श की बात नहीं की जा सकती है। पर कला का हृदय – या तत्त्व – ही भाषा के माध्यम से आत्मविमर्श करना है। संगीत में स्वर–ताल, चित्र में वर्ण–रेखा, वास्तु में देश–विन्यास, भास्कर्य में घनत्व, नृत्त में शरीर और उसकी चेष्टायें.... ये एक सामान्य निर्वैयक्तिक प्रतीक–व्यवस्था बनाते हैं। शब्दमयी भाषा की तरह ही सामान्य–प्रत्ययों में बसते हैं। ये 'भाषा' ही के रूप हैं। तभी हम कला में ज्ञातृत्व का धर्म देख सकते हैं। हां, कला को जो रंजन का साधन माना जाता है, वह इसे भोग के समकक्ष ले आता दिख सकता है। पर इस 'रंजन' का माध्यम अर्थ–वृत्ति होती है – व्यंजना जो भाषासम तटस्थता में रूप लेती है। भोग में ऐसी अर्थवृत्ति नहीं होती। भोग व्यंजित नहीं होता, वहां अर्थ की बात नहीं की जा सकती। पर हां, हम व्यंजना के माध्यम से भी अपनी तरह का 'आस्वाद' साध सकते हैं। साधते ही हैं। कला–कृति में हम भावों को सजाते हुए ऐसा रूप दे सकते हैं कि उपलब्धि सुखद हो, अनुकूल हो, मनचाही हो। यों हम भावों के ऐसे कल्पलोकों का अनुभव साध सकते हैं जिनमें रसन हो, आस्वाद हो, मनोरंजन हो। व्यंजना के सहारे हमारी कल्पना ऐसी निर्मितियां साधती ही है। साधती नहीं थकती।

'रस' शब्द में हम ऐसे ही रंजन की ध्वनि पाते हैं। कला को हम 'रस' से परिभाषित करते रहे हैं। रस–चिंतन हमारे यहां पुराना है, हमारी कला की समझ को सहज ही 'रंजित' करता है। पुराने रस–चिंतन में रस को आस्वाद या रंजन से जोड़ा ही गया है। तो, अचंभा नहीं कि हम रस को रंजन का पर्याय–सा मान लेते हैं। पर यह ठीक नहीं है; पुराने चिंतन की भी अधूरी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एकदेशी–सी पकड़ है। रस को व्यंजित कहा गया है। और व्यंजना को रंजना तक सीमित नहीं किया जा सकता। व्यंजना अर्थ की वृत्ति है, और उसके अर्थ का आयाम व्यापक है, जैसा कि अर्थ मात्र का होता ही है। रंजना उसका एक लक्ष्य हो सकता है, पर वह भी उत्कर्ष के तारतम्य में निचला ही ठहरेगा। हां, फिर भी यह स्वीकार कर सकते हैं कि क्योंकि व्यंजना भाव का व्यापार है इसलिये उसमें भावात्मकता होती है। व्यंजना–व्यापार अनुभव में अनुभव के रूप में ही जागता है, तो अनुभव के रंग में रंगा भी होता है। तभी इसमें अनुकूल–वेदन का बोध उभारना सहज होता है। पर भूलना न चाहिये कि व्यंजना प्रतिकूल–वेदन भी उतने ही मर्मन्तुद तीखेपन से जगा सकती है।

यों तो अपने भाव–संबंध के कारण कला रंजन ही नहीं उद्दीपन भी करती है : युद्ध के नगाड़े लड़–मरने के उत्साह को भड़काते हैं, काम–रति के गुदगुदाते वर्णन कामना जगाते हैं....। पर स्पष्ट ही उद्दीपन (या रंजन) कला का हृदय नहीं है। उसका हृदय व्यंजना की वह संभावना है जिसे भाव का या अनुभव का भावित–अनुभूत आत्मविमर्श कह सकते हैं। भूलना न चाहिये कि अर्थ–वृत्ति होने के कारण व्यंजना को (ज्ञान की तरह ही) साधारणीकृत कहा ही गया है। पर यह साधारणीकरण अपनी तरह का होता है। शब्द–प्रसूत हो भी, जैसे काव्य में, तो भी शब्दमय नहीं होता। निःशब्द ही होता है। हम उसे शब्द का रूप देने को प्रवण, तत्पर रहते हैं, हम व्यंजित अर्थ को अर्थ–ग्रहण के साथ ही अभिधा में पकड़ना चाहते हैं, उसे शब्द का रूप देने की ओर सहज मुड़ते हैंय व्यंजित अर्थ को निरूपित–विवेचित करते हैं। हमारी समझ मानो स्वभावेन शब्द की ओर मुड़ती है, उसीमें अपने को 'सार्थक' पाती है।

पर व्यंजना को अभिधा का रूप देते ही उसकी अवगति का स्वरूप बदल जाता है। व्यंजना में 'है', 'क्या है', इसका अध्यवसाय नहीं होता, फिर निरूपण, विवेचन, प्रश्न, संशय, मीमांसा, ये भी संभव नहीं होते। ये अभिधा–करते शब्द की मांग करते हैं। ऐसा इसलिये कह रहा हूं क्योंकि व्यंजना भाषा में भी संभव है; तभी कविता, कथा, उपन्यास.... ये कलायें हैं, वर्णन–निरूपण, लक्षण, स्वरूप–विचार, विधि–निषेध, आदेश–निर्देश के शास्त्र नहीं। कलागत अर्थ इन भाषाबद्ध कला में भी व्यंजित ही होता है, अभिहित नहीं। रस–चिंतकों ने यहां अभिधा और व्यंजना की अर्थ–वृत्ति में गहरा, कोटिगत, भेद किया है ('श्रृंगार' शब्द से श्रृंगार व्यंजित नहीं होता, विषयी में विषयित्वगत अर्थ–भाव बन कर नहीं जागता, विषय ही रहता है)। यह भेद हमारे वस्तु–बोध के एक अंतरंग पक्ष की ओर इंगित करता है। व्यंजना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में भाव विषय का रूप नहीं लेता, ज्ञान की तरह विषय–उन्मुखता का रूप नहीं लेता, बल्कि अपने विषयित्व में रहता हुआ ही विषयी के बोध में जागता है, या कहिये कि यह विषयित्व का अपना अंतरंग अवगति–व्यापार होता है, पर अवगति यहां भी सत्य की होती है : विषयी को अपने स्वरूप के वस्तुत्व का बोध होता है। पर इस चर्चा को यहां और बढ़ाने की, इसके नखशिख में जाने की जरूरत नहीं (अन्यत्र मैंने भी अपनी तरह से विस्तार किया है)।

यहां मैं ध्यान इस बात पर ले जाना चाहता हूं कि व्यंजना का क्षेत्र प्रसृत है, कला–शिल्प तक सीमित नहीं है। उसके क्षितिज की ओर हम थोड़ी भी आँख करें तो सहज ही पाते हैं कि हम कला से ही नहीं, प्रकृति की आकृतियों, गतियों, से भी व्यंजना ग्रहण करते हैं : आकाश का विराट विस्मय, हिमालय की भव्यता, संचारिणी लता का लालित्य.... इसके प्रत्यक्ष दृष्टांत हैं। शिल्प की व्यंजनार्थ साधी हुई आकृति की तरह यहां भी भाव–चित्त के लिये अर्थ व्यंजित होता है। बल्कि कह सकते हैं कि शिल्प में आकृतिगत व्यंजना की संभावना का मूल यहीं है। आकृति और गति मात्र में व्यंजना की संभावना न हो तो शिल्प, नृत्त, वास्तु, ये संभव न होंगे। शिल्प इन संभावनाओं का अलग स्वतंत्र लोक सृष्ट करता है जहां इन्हें अपनी कल्पना में ढाल कर एक स्वतंत्र, विशेष दिशा देता है, नये दिगंत उद्घाटित करते हुए समृद्धतर संगति देता है; पर इनकी संभावना का मूल प्रकृति में है। हमारी व्यंजना ग्रहण करती चेतना में है।

व्यंजना का ग्रहण हम प्रकृति से ही नहीं करते, व्यवहार से भी करते हैं : पशुओं के व्यवहार से (जैसे दौड़ते चीते की क्षिप्र–समाहित चाल की नृत्तवत्ता से) और उससे भी गाढ़–निबिड़ भाव से अपने ही (मनुष्य के) व्यवहार से। एक छोटी सी बात ही लीजिये : हमारे रहनी में संबंधों के, परस्पर या अपरस्पर भाव के 'वातावरण' बनते हैं, जिनके प्रति उपन्यासकार ही नहीं, हम सब संवेदनशील होते हैं। नाट्य इनकी अनुसृष्टि को अपना लक्ष्य बनाता है। 'वातावरण' का भावित–अनुभूत आवह व्यंजना–ग्राह्य ही होता है। व्यवहार में, या कहिये मनुष्य–भाव में, ऐसे 'वातावरण' का क्षेत्र व्यापक है। व्यक्तियों का ही नहीं, समाजों का, 'युग' का भी वातावरण होता है। हम पर व्यंजित होता है। व्यक्ति की, समाज की, 'पहचान'–'परख' में ऐसी व्यंजना की बड़ी भूमिका होती ही है। यही देखिये कि व्यक्ति की ही पहचान, उसके स्वभाव–चरित्र का भाँपना–समझना–तोलना, या कहिये व्यक्ति का व्यक्तिभावेन 'ज्ञान', व्यंजना के बिना संभव नहीं। और यह संभव है, तभी अभिनय संभव है, नाट्य संभव है, कथा, उपन्यास, संभव हैं। पर हम बाहर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का ही नहीं, अपने भीतर का 'वातावरण' भी ग्रहण करते हैं। हमारे भीतर का 'अर्थ', जितना भी हम इसे पकड़ पाते हैं, पहले व्यंजित होता है, फिर विवेच्य। मैं जब अपने से आप से पूछता हूं, मैं अभी क्या हूं, कहां हूं, कैसा हूं, तो अपने होने के भाव को भाँपना चाहता हूं। इसकी पकड़, जितनी भी पकड़ मुझमें बन पाती है, भावयितृत्व की पकड़ होती है, और व्यंजित हो कर बनती है।

ऊपर के उदाहरण अर्थ–ग्रहण के ही उदाहरण हैं। इनमें हम अनुभूति की आँख से ही अनुभूति के मर्म को 'पकड़ते' हैं। इस 'पकड़' को – उसके भाव को, या कहिये उसके हृदय को – व्यंजना द्वारा ही 'जाना' सकता है। यह ऐसा जानना है जहां विषयित्व अपने से तटस्थ होकर अपने को विषय बनाये बिना, अपने विषयित्व स्वरूप में रहता हुआ ही अपने स्वरूप का 'अर्थ'–रूपेण अनुभव करता है। यह 'अर्थ' भाषा में अभिहित नहीं हो सकता, पर होता अर्थ ही है, सामान्य – या पुराना शब्द लें तो कहिये, साधारणीकृत – अर्थ ही होता है : साधारणीकृत न हो तो अर्थ ही नहीं होगा, उसकी कोई पकड़ ही नहीं बनेगी। हां, व्यंजित अर्थ को हम अनायास ही शब्द देने की ओर मुड़े रहते हैं – उसका 'क्या है', हमारे लिये सहज ही शब्द–निरूपण, विवेचना, व्याख्या, मीमांसा.... का मार्ग लेता है। और हम सहज ही इस शब्द–व्यापार के विमर्श और अध्वसाय को ही 'ज्ञान' समझ बैठते हैं, पर यह 'ज्ञान' व्यंजना को अपने आधार में ऊह्य रखता है। और व्यंजित अर्थ का स्वरूप क्या है, 'ज्ञान' इस विषय में विप्रपत्तिमय हो सकता है, होता ही है। कविता–उपन्यास का अर्थ क्या, इस बात के सहज आलोचना–वैविध्य का ही उदाहरण ले लीजिये।

पर व्यंजना के भीतर अपनी निःशब्द पकड़ होती है, परख होती है, जिसके प्रति हम अभिज्ञ रहते हैं, अधिकाधिक अभिज्ञ होते जा सकते हैं। इसी को सहृदयता कहा गया है। एक बात जो साक्षात् उभरती है, उसे खरेपन का बोध कहा जा सकता है : अर्थ उभरा या नहीं, अर्थ ने अपने सत्य को, स्वरूप को, पाया या नहीं, पाया तो कितना पाया? यह प्रमाण–व्यापार, विवेक, हमारी संवेदना में, सहृदयता में, निहित–निविष्ट रहता है। पर एक दूसरा बोध भी रहता है जहां इस बोध या अवगति व्यापार की प्रत्यङ्मुखता और भी गहराई से आगे आती है। उसे भाव के स्तर की पकड़ कहा जा सकता है। ऊपर के उदाहरणों के छोटे से संग्रह में भी हम क्षेत्र–भेद या प्रकार–भेद कहिये, ये ही नहीं, स्तर–भेद भी आगे आता देख सकते हैं। भाव के स्तर की पकड़ का बोध भाव के खरेपन के बोध के साथ भी अविनाभावेन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रकट रहता है : हम पर इतना ही व्यंजित नहीं होता कि 'भाव है', 'बन' रहा है (या नहीं बन रहा है), साथ ही, भाव का उत्कर्ष–अपकर्ष भी व्यंजित होता है। यह हमारे लिये अपनी भावगत अंतःसाध्यता पर आत्ममनन, निदिध्यासन का अवसर भी बन सकता है। हां, मनन जैसे व्यापार में शब्द प्रयोग भी होता है, पर इस मनन में, जिसे संवेदना का आत्मविमर्श भी कह सकते हैं, शब्द की वृत्ति गौण या अवांतर–आनुषंगिक होती है।

ऊपर के उदाहरणों से एक और बात जो तीखी उभरती है उसे इन्द्रियों की साक्षात् व्यंजना–ग्राहकता कह सकते हैं। हिमालय की दीर्घ–विशाल, उत्तुंग, स्थिर–स्तिमित आकृति का भव्य भाव इन्द्रिय–ग्राह्य ही होता है। इन्द्रिय के बिना ऐसे ग्रहण की कल्पना नहीं की जा सकती। यह 'ज्ञान' – इसे शोभा या सौन्दर्य का बोध कह लीजिये – यह 'यह पर्वत है', इस अध्यवसाय की तरह ही इन्द्रिय–प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है। आपत्ति हो सकती है कि सौंदर्य का अध्यवसाय नहीं होता : हिमालय की भव्यता देश–काल––स्थित वस्तु रूप में भासित नहीं होती; इसलिये 'हिमालय भव्य है', इसे इन्द्रिय–लब्ध 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता। व्यंजित भाव ही कहा जा सकता है। भव्यता हिमालय के स्वस्थित, या कहिये जगत्–स्थित, विषयगत गुण के रूप में हिमालयगत नहीं होती है, उसे विषयीगत आभास या विषयोन्मुख विषयी में उन्मुदित–होता एक सुखद विकार या विवर्त ही समझना चाहिये, या इसे विषयी की भोगजातीय, या कहिये भोगधर्मी, दशा–अवस्था विशेष कहा जा सकता है, लेकिन इसे वस्तु–ग्राहक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सौंदर्य ('भव्यता' जैसे गुण का बोध) अनुभूति–सार होता है, हिमालय जैसी स्वस्थित वस्तु में प्रतिष्ठित नहीं होता। या कहिये कि व्यंजित भाव भाव ही होता है, चाहे इन्द्रिय–ग्राह्य वस्तु–जन्य ही क्यों न हो, वह वस्तु का ज्ञान नहीं कहला सकता। पर ऐसा हम 'वस्तु' को देश–काल–गत रूप में नियतत्वेन परिभाषित करते हुए ही कह सकते हैं। लेकिन विषय और उसकी स्वस्थिति को यों नियत–सीमित नहीं कर दिया जा सकता। ऊपर हमने बुद्धिगत विषयों की बात की, देखा कि वहां भी सामान्यता का, प्रमाण का, यों वस्तु–अवस्तु विवेक का उतना ही स्थान है, जितना इन्द्रिय–लब्ध विषयों में। सौंदर्य भी सामान्य होता है। हम हिमालय को भव्य कहते हैं तो इस भरोसे के साथ कि वह अपने आप में भव्य है, जैसे संख्या अपने आप में संख्या है, बल्कि ऐसी संख्या भी जिसे ऋण 'एक' का वर्गमूल कहा जाए – अपने आप में संख्या है, नहीं तो कुछ नहीं है, एक खोखला स्वतोविरोध है। कोई संख्या विशेष जो संख्या के रूप में रूढ़ भी हो गई हो उसे लेकर हम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विवाद भी कर सकते हैं कि संख्या है या नहीं (जैसे शून्य या अनंत या कहिये असंख्य या इनफिनिटी)। पर विवाद करते हुए भी हम ऐसी 'संख्या' को विषयी का आक्षेप तो नहीं समझते! तभी चाहे इसे हम संख्या मानें या न मानें, इसके बारे में विषयि–तंत्रता का प्रश्न नहीं उठता। हिमालय के भव्य होने के साथ – सौंदर्य मात्र के साथ – भी बात वास्तव में यही है। हम मान कर चलते हैं जिसमें भी में संवेदना की आँख होगी, उसे हिमालय भव्य लगेगा, क्योंकि भव्य है, तभी प्रत्यक्ष ही भव्य दिखता है। इसे अपनी तरह का 'अध्यवसाय' भी कह ही सकते हैं : जैसे 'यह संख्या है', 'यह भाषा है', 'यह विचार है', 'यह अभ्युपगम है', 'यह सिद्धांत है'। ये अध्यवसाय भ्रम या मिथ्या हो सकते हैं, जैसे इन्द्रिय–प्रदत्त वस्तु का अध्यवसाय भी हो ही सकता है; पर तभी ये प्रमाण–चाहते विमर्श और मीमांसा की अपेक्षा रखते हैं। पर 'प्रमाण है', यह विमर्श भी मिथ्या या भ्रांत हो सकता है। भ्रांति तो सत्य की जिज्ञासा और प्रमाण–साध्यता में ही निहित है; भ्रांति सत्य को ऊह्य ही नहीं, साध्य रखती हुई रूप लेती है, सत्य की अपेक्षा उसमें अंतर्निहित रहती है।

(6)

ऊपर हमने ज्ञातृत्व और भावयितृत्व पर ध्यान दिया। ये हमारी अस्मिता के साथ उभरते हैं, उसे अहं मात्र से, अहं की परतंत्रता से, उठा कर स्वातंत्र्य में, साध्यता में स्थापित करते हैं। पर अस्मिता के स्वातंत्र्य और साध्यता का मूलाधार हम कर्तृत्व में पाते हैं। अस्मिता का संबंध एक ओर जहां चेतना के सामान्य से है, वहीं वह हमारे स्व को भी अ–परतंत्र आत्मचेतन निजता, व्यक्तित्व देती है। मैं अन्य–सामान्य होता हुआ भी अनन्य होता हूं। स्वतंत्रता में अपनेपन का बोध करता हूं, साध्यता में अपने को स्वसाध्य पाता हूं। इसका आधार आत्मचेतन कर्तृत्व–बोध में देखा जा सकता है। 'कर्त्ताऽहम्', यह बोध ही मेरी अस्मिता की अनन्यता का बोध है। यही मुझे विशेषता देता है। मुझे आत्मसाध्य बनाता हुआ, मुझमें दायित्वबोध जगाता है।

कर्त्ताऽहम् का बोध – या 'अभिमान' ही कह लीजिये – जागता ही संकल्प–बोध के साथ है। मेरी अस्मिता को – व्यक्ति–भाव को – इस संकल्प से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों अविनाभावेन युगनद्ध हैं। मुझमें आत्मचेतना और तन्निहित श्रेयबोध के साथ जागते हैं। हम प्रतीत करते हैं कि संकल्पबोध को ही नाभि बना कर आत्मचेतना के अरे मुझमें अस्मिता का रूप लेकर घर करते हैं। ज्ञातृत्व, भावियितृत्व – या अनुभावयितृत्व का – मुझे केन्द्र बनाना मेरे संकल्पबोध को आलंबन बनाता है, क्योंकि वही मुझे अर्थ–साधते व्यक्ति का रूप और सत्त्व देता है; ज्ञातृत्व, भावयितृत्व को भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रवृत्त होने की धरती देता है, क्योंकि इनकी बहुमुखी साध्यता सामान्य होती हुई भी घर व्यक्ति में ही करती है, व्यक्ति–साधना की मांग करती है; व्यक्ति में ही प्रस्फुटित होती है, व्यक्तिविशेष की सामान्यता को आधार बनाती हुई अन्य–व्यक्ति–सामान्य होती है। ऊपर हम देख आये हैं कि मेरी अनन्यता अन्य–सामान्यता को ऊह्य रखती है। पर अन्य–सामान्यता के बोध का अधिष्ठान अनन्य–मैं होता हूं। तभी अन्य मेरे लिये ज्ञान या संवेदना के क्षेत्र में प्रमाण ही नहीं होता, उसके प्रति मेरा दायित्व भी बनता है। व्यक्तियों के बीच – और समाजों के बीच भी – दायित्व का जो परस्पर भाव बनता है और मनुष्य के व्यवहार का, उसके रहन–सहन का आधार होता है, वह व्यक्ति–निष्ठ संकल्प को ऊह्य रखता है। तभी यह कहना सच है कि धर्म ही मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण है और उसे विशेषित करता है, अन्य जीवों से अलग करता है : जैसा कि मनु ने अपनी स्मृति के आरंभ में ही कहा है, और जिसके बिना किसी स्मृति या संविधान की कल्पना या आवश्यकता नहीं हो सकती (आहार निद्रा भय मैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिः नराणां। धर्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।)। धर्म को आधार व्यक्ति का विवेक और संकल्प ही देता है। तभी शरीर को धर्म का मूल या पहला साधन कहा ही गया है (कालिदास ने पुकार कर कहा है : शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्)। यहां इंगित स्पष्ट है कि धर्म की सामान्यता व्यक्ति–निष्ठ कर्तृत्व की, संकल्प की, मांग करती है।

हां, धर्म समाज और समाज–चेतना को भी ऊह्य रखता है। बल्कि कह सकते हैं कि समाज में भी एक आत्मचेतना जागती है, जो उसे एकत्व के साथ स्वसाध्यता भी देती है, और धर्म इसीका लक्षण है; भाषा की तरह धर्म के नियम, आचरण समाज में रूप लेते हैं। पर, कहना न होगा, समाज की आत्मचेतना 'कर्त्ताऽहम्' कोटि की नहीं होती। 'कर्त्ताऽहम्' की कोटि शरीरी व्यक्ति में ही रूप लेती है : शरीर को, शरीर–निष्ठ संवेद–प्राण–मन को ऊह्य रखती है। शरीर के बिना अस्मिता, अस्मिता का कर्तृत्व अकल्पनीय है। पर समाज का शरीर नहीं होता, चाहे समाज का व्यक्ति–व्यूह कितना ही छोटा क्यों न हो। समाज का एकत्व व्यक्ति जैसा नहीं होता, क्योंकि समाज व्यक्ति की तरह शरीरी नहीं होता। पर अशरीरी होते हुए भी समाज में आत्मचेतना होती है, इस बात की आकलना सहज की जा सकती है।

यह देखिये। समाज तो क्या, दो अभिन्न–प्राण मित्र या प्रेमी–युगल का ही एक शरीर नहीं होता, चाहे उनमें इसकी कितनी ही चाह क्यों न ललकती हो कि वे मन–प्राण से ही नहीं, शरीर से भी एक हो जायें। पर एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शरीर के अभाव में उनका एकत्व समाज की तरह ही अशरीरी ही होता है। सच पूछें तो प्रेम में भी हम सचमुच एक–शरीर होने की चाह नहीं रखते। प्रेम में हमारी चाह, या एषणा, जिस एकत्व की होती है वह वास्तव में एक शरीर की मांग करती ही नहीं : क्योंकि शरीर ही एक हो जाये तो मैत्री या प्रेम का अर्थ ही क्या होगा? हम जो मैत्री या प्रेम करते हैं, वह करना – वह प्रवृत्ति ही – अन्य के भिन्न – या कहिये भिन्न–शरीर – होने की अपेक्षा रखती है। हां, एक ही शरीरी की अपने आप से ही मैत्री या प्रेम की बात की जा सकती है, पर फिर मैत्री या प्रेम का रूप, इनका आदर्श, इनका साध्यत्व ही और होगा, बात ही और हो जायेगी; कोटि ही भिन्न होगी। आत्मा को – या इस संदर्भ में शरीरी कहिये – उसे अपना ही मित्र (और शत्रु) कहा जा सकता है (कहा ही गया है : आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः), पर, कहना न होगा, यहां 'शत्रु', 'मित्र', शब्दों का अर्थ, उनकी ध्वनि, ही और होती है; उसका संबंध आत्मा के जिस साध्यत्व से होता है, अन्य वहां परोक्ष हो जाता है, या वह भी आत्म ही होता है : हमसे अभिन्न, एकात्म। और स्पष्ट ही यह अभिन्नत्व शरीर से ऊपर उठ कर ही बनता है।

मैत्री और प्रेम जैसी अभिन्नता अद्वैतदिग्ध द्वैत को – या कहिये भेदाभेद को – ऊह्य रखती है, अवलंब बनाती है। समाज के एकत्व को भी इस निदर्श पर समझा जा सकता है। बात को सहज ही व्यापकतर स्तर पर ले जाया जा सकता है जहां बात अनायास समाज को समेट लेती दिखती है।

परंपरा को लीजिये। बुद्धि–विषयों की – दर्शन, कला, विद्या, विज्ञान, धर्म, अध्यात्म...., इनकी किसी भी परंपरा को लीजिये। प्रेम और मैत्री की तरह ही कोई भी परंपरा भिन्न शरीरियों को एकसूत्रता में गूंथती दिखती ही है। एक अंतःगठित समूह, यूथ, बनाती है परंपरा। यूथ शरीरधारी शरीरियों का ही होता है, पर शरीरी की चेतना यहां सहज ही शरीर से स्वतंत्र सत्ता रखती देखी जा सकती है। व्यक्ति की तरह ही परंपरा का अपना स्वरूप, स्वभाव, संधान, संधान–भंगी (या शैली), आदर्श.... होता है (यहां तक कि हम प्रेम और मैत्री की परंपराओं की भी बात कर सकते हैं)। बड़ी सजग, आत्मावगाही, आत्मावलोची, चेतना होती है परंपरा की चेतना। और फिर, परंपरा देश से ही नहीं, काल से भी स्वतंत्र होती है, क्योंकि परंपरा स्पष्ट ही (शरीरधारियों के) वर्तमान तक सीमित नहीं होती, विगत से चलती हुआ अनागत की ओर बढ़ती दिखती है – परंपरा में जागरूकता का उन्मेष हो तो विगत से अधिक अनागत की ओर ही उन्मुख दिखती है। पर परंपरा समाज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के बिना अकल्पनीय भी है, उसे ऊह्य ही नहीं रखती, उसीके भीतर बनती है : जैसे व्यक्ति बनता है। व्यक्ति ही की तरह, समाज और तन्निष्ठ संस्कृति की कोटियों के बिना परंपरा की कल्पना नहीं जा सकती है : इनको ही आधार बनाती, व्यक्त करती है परंपरा, या परंपरायें कहिये। समाज–विशेष को हम परंपराओं के व्यूह–विशेष के रूप में देख–समझ सकते हैं। हां, मिट सकती है परंपरा। पर मिटता तो व्यक्ति भी है; समाज भी मिटते हैं। पर परंपरा का, समाज का, मिटना व्यक्ति के मिटने की तरह शरीर के मिटने का अपेक्षी नहीं होता।

देखने की बात यहां यह है कि परंपरा का जैसा एकत्व होता है, जैसी उसमें साध्यता होती है, उसके लिये सहज व्यंजना के साथ 'आत्मचेतना' की बात की जा सकती है : ऐसी साध्यता–में–पली आत्मचेतना जो शरीर–धारियों को अधिष्ठान बनाते हुए भी शरीर से स्वतंत्र होती है, फिर भी शरीरधारी व्यक्ति जैसा ही एकत्व, नैरंतर्य, 'व्यक्तित्व' रखती है। ध्यान रहे, व्यक्तित्व भी तो, शरीर की अपेक्षा रखता हुआ भी, शरीर–निरपेक्ष होता है – तभी उसे चरित्र का रूप देकर उसकी कहानी कही जा सकती है, उसे काल्पनिक उपन्यास का रूप दिया जा सकता है, जहां नई परिस्थितियों में चरित्र का तत्–चरित्रत्व देखा पहचाना जा सकता है, उसकी संभावनाओं की टोह, थाह ली जा सकती है। परंपरा में यह शरीर–निरपेक्षता स्फुट हो कर आगे आती दिखती है : क्योंकि परंपरा शरीरियों की अपेक्षा रखती हुई भी व्यक्तित्व की तरह शरीर की अपेक्षा नहीं रखती, चाहे शरीर यहां (व्यक्तित्व के संदर्भ में) एक नहीं, अनेक हो सकते हों, जैसे उसी चरित्र की भूमिका करते भिन्न अभिनेताओं में। नाट्य से बाहर भी हम एक ही व्यक्तित्व को एकाधिक व्यक्तियों में पा ही सकते हैं; व्यक्तित्व में एक सामान्यता होती है, तभी किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व अन्य के लिये साध्य, उसके अपने 'होने' का आदर्श बन पाता है। परंपरा व्यक्तित्व की तरह ही एक विशेष आत्मसाध्यता रखती है। व्यक्ति का व्यक्तित्व, अस्मिता का अपेक्षी होता है, और अस्मिता जिस आत्मचेतन विषयित्व में निष्ठ होती है, उसकी सामान्यता के भीतर अपना विशेष रखता उभरता है व्यक्तित्व। यों, स्पष्ट ही शरीर–निरपेक्ष होता हैय तभी यहां 'शरीरी' की बात संगत होती है। परंपरा का भी स्पष्ट ही अपना सामान्यता–निष्ठ विशेष विषयित्व होता है, पर वह उसे शरीर से ही नहीं, शरीरियों से भी स्वतंत्र रखता है। परंपरा व्यक्ति से स्वतंत्र ही नहीं, व्यक्ति से ऊर्ध्व रह कर उसकी नियोक्ता होती है : हम व्यक्ति के व्यक्तित्व को, उस की आत्मसाध्यता के आदर्श को, रूप को, परंपरा–प्ररोचित देखते–पाते ही हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परंपरा का शरीर से स्वातंत्र्य इस बात में और भी स्फुट है कि परंपरा, मिट तो सकती है, पर उसकी मृत्यु नहीं होती। मिटी हुई, लुप्त परंपराओं को सहज ही पुनरुज्जिवित किया जा सकता है, उनको ऐसा नया जीवन दिया जा सकता है जो साध्यता की नई संधान–यात्रा में उन्हें आगे ले जाये; 'मृत'–कहलाती परंपरा नई सिसृक्षा के साथ नये रूप लेती नई तरह से बढ़त ले। ऐसा होता ही रहा है। एक (अति) प्रसिद्ध दृष्टांत लीजिये। योरप की (पश्चिम की) 'आधुनिकता' का अपूर्व कहलाता 'विकास' लुप्त, मिटा–दी–गई (या कहिये, मृत–कर–दी–गई) ग्रीक परंपराओं के पुनरुज्जीवन को अपना अवलंब बनाता और मानता ही है। यों परंपरा के 'मृत' आत्म को नया सार्थक 'जीवन' दिया जा सकता है। क्योंकि परंपरा का आत्म शरीर का अपेक्षी नहीं होता। इसलिये कि प्रतीकों में होता है। वह मरता नहीं; हां, भुलाया जा सकता है, मिटाया जा सकता है; पर फिर से 'जिलाया' भी जा सकता है। प्रतीकों का अर्थ, उनकी 'अमर्त्यशील' – मृत्यु की कोटि से बाहर – व्यंजनाओं का ग्रहण करते हुए परंपरा में फिर से नये जीवन, नये आत्मसाध्यत्व का वपन किया जा सकता है। अवशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से ही योरप ने ग्रीस को रिनेसाँ में पुनर्जीवन दिया था। तो, परंपरा के 'आत्म' की बात सहज युक्ति–संगति से की जा सकती है।

परंपरायें संस्कृति का वाहन होती हैं। हमने जब कहा कि समाज को परंपराओं का व्यूह कहा जा सकता है तो इसी ओर इंगित था। परंपराओं का विशिष्ट व्यूह किसी एकसूत्रता में बँधा न भी हो, तो भी उस ओर उन्मुख दिखता है (जैसे व्यक्ति की तत्–व्यक्तित्व की ओर उन्मुखता), तभी संस्कृति विशेष की बात अर्थ रखती है। समाज को तत्–समाज के रूप में संस्कृति–विशेष ही परिभाषित करती है। परंपरा की तरह संस्कृति का भी अपना आत्म होता है जो तद्गत परंपरा व्यूह को रूप देता है, अपनी सी गति, भंगी, चलन–शैली, चरित्र, देता है, आदर्श देता है; और इस संपूर्ण को एक अपना–सा साध्यत्व देता है। समाज का आत्म, उसका साध्यत्व ही संस्कृति का रूप लेता है। इस व्यापार में 'व्यक्तित्व' की व्यंजना प्रकट है। समाज को स्पष्ट ही व्यक्ति की तरह 'शरीरी' नहीं कह सकते, शरीर की बात ही यहां निरर्थक है। पर फिर भी लक्षणा का सहारा लेते हुए, समाज के बहिरंग ढाँचे को, संरचना को, संस्कृति से अलग करते हुए उसे संस्कृति का शरीर कह दिया जा सकता है; और फिर उसके 'शरीरगत' लक्षणों की अलग से खोज की जा सकती है, निरूपण किया जा सकता है, जैसा कि आज का समाजशास्त्र करता है। पर इसे मनुष्य के शरीर को समझने की तरह ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मनुष्य को समझना नहीं कह सकते। इसे मनुष्य–भाव का बहिरंग ही कह सकते हैं। पर जो भी हो, स्पष्ट ही समाज का शरीर मनुष्य के शरीर की तरह प्राण–इन्द्रिय–मनोमय नहीं होता, उसे लक्षणा में ही शरीर का नाम दिया जा सकता है। तो, समाज का आत्म शरीर–अतिक्रामी ही नहीं होता प्राण–इन्द्रिय–मन का भी अतिक्रमण करता है। जिसे हम उसका 'शरीर' कह दे सकते हैं, उसे हमारी तरह शरीरी से अलग नहीं किया जा सकता। शरीर–शरीरी संबंध वहां नहीं बनता दिखता। समाज के 'शरीर' को उसके आत्म से अलग नहीं किया जा सकता। बल्कि जिसे हम समाज का शरीर कह दे सकते हैं, उसका बहिरंग, उसके आत्म का ही व्यवहार में रूप लेता बहिरंग ही कहा जा सकता है : वह व्यवहार जिसका शरीर नहीं होता पर जिसमें शरीर शरीरियों का रूप लेते हैं; इनके माध्यम से संस्थायें बनती हैं, परंपरायें रूप लेती हैं....। पर यह शरीरी – मनुष्य का व्यक्ति–आत्म – अपनी सामान्य–विषयित्व–रखती अस्मिता में शरीर–अतिक्रामी ही होता है, तभी मनुष्य–समाज का माध्यम बन पाता है। समाज–शरीरी की बात करें तो समाज की 'अस्मिता' की बात करनी होगी : पर जिसे यहां 'अस्मिता' कह सकते हैं वह प्रतीकों में, प्रतीकों के अर्थों में, भाषा जैसी विराट्–व्यापक संभावनामय प्रतीक–व्यवस्थाओं के भीतर, इनकी परंपराओं में रूप लेती है; आदर्शों में रूप लेती हुई संस्थाओं में, व्यवस्थाओं में, इनके कृतित्व में, निर्मितियों में 'अस्मि' का व्यंजनामय रूप धारण करती है।

इन्हीं में व्यक्ति भी रूप लेता है। पर इन्हें रूप देता भी है। व्यक्ति संस्कृति को बनाता हुआ संस्कृति से बनता है। पर हां, यह भी सच है कि संस्कृति–को–बनाते व्यक्ति कम होते हैं, अधिकतर तो हम उससे बनते ही हैं। हममें, हमारे व्यवहार को, रहन–सहन को रूप देती जो सामान्य चेतना रूप लेती है उसे सहज ही संस्कृति की हमसे ऊर्ध्व, अतिक्रामी 'आत्मचेतना' के रूप में देखा–समझा जा सकता है। यहां तक कि व्यक्ति का व्यवहार–आत्म ही नहीं, उसका कामात्म, जो नितांत 'उसका' (स्वगत अनुभूत आत्म) होता है, उसकी शरीरगत वासनायें, मनोगत कामनायें, इच्छायें, एषणायें, अभीप्सायें (जिनको लक्षणा में उसके 'सपने' कहा जाता है), ये भी संस्कृति में या संस्कृति के अंतर्गत किसी परंपरा में, ढल कर रूप लेते हैं। व्यक्ति–कामना की पूरी स्व–अर्थ सिद्धि, जिसमें धन–यश–मान–प्रभुत्व...., इन लोकैषणाओं को गिना जा सकता है, ये भी संस्कृति–रंजित होती हैं, (क्योंकि 'लोकैषणा' का 'लोक' संस्कृति ही बनाती है); फिर मनुष्य की मनीषा की – ऊर्ध्वतर दर्शन, कला, विज्ञान..... जैसी अर्थ–साधना – या कहिये सम्यक् पुरुषार्थ–साधना – की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तो बात ही क्या! (हम जब परंपराओं की बात करते हैं तो ध्यान में ये ही प्रधान होते हैं)। हम जब समाजों के मिटने की बात करते हैं, या सभ्यता के 'मरने' की – मिटने की – बात करते हैं तो उस संकृति–आत्म और तन्निर्मित परंपरा–व्यूहों के नष्ट–लुप्त हो जाने की बात करते हैं जो, किसी समाज को तत्–समाजत्व का तादाम्य देते हैं। समाजगत व्यक्तिसमूह तो बचा ही रहता है। उसमें समाज के बहिरंग संबंध – उसका व्यवहार, जिसे चाहें तो उसका शरीर कह लीजिये – वह भी बचा रहता है। जो फिर नई संस्कृति का आधार हो सकता है।

पर नितांत अशरीरी हो कर भी संस्कृति का आत्म शरीरी व्यक्तियों के व्यूह में ही रूप लेता है, ऐसे व्यक्तियों के बिना इस आत्म के 'होने' की बात नहीं की जा सकती। समाज–चेतना के धारक व्यक्ति ही होते हैं। यही कारण है कि अंतर–विषयित्व जैसी धारणायें अर्थ रखती दिखती हैं, जो व्यक्ति–विषयी को ही आधारभूत और सर्वस्व रखने की दिशा लेती हैं : समाज को व्यक्ति–विषयी–समूह के रूप में आँकते हुए, समाज को व्यक्ति की ही सहज परोन्मुख प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं को अर्थक्रिया की धरती (या कहिये अपेक्षया स्थिर भूमि) देने के लिये व्यक्तियों के बीच उभरते अंतः संबध के रूप में आंकती हैं। इस अंतःसंबंध की अपनी कोई तात्त्विक सत्ता नहीं। तात्पर्य यह कि समाज का जो अपना 'विषयित्व' – अपना अलग 'आत्म' – प्रतीत होता है, उसकी सत्ता स्वतंत्र कुछ नहीं, व्यक्ति–विषयियों के अंतर–संबंध से बना एक प्रतीत–होता सामान्य है; वस्तु नहीं, वस्तु का भ्रम है। कहना न होगा कि विचार की गति यहां इन्द्रिय–प्रत्यक्ष और तत्–दृष्ट जगत् को ही सत् रख कर आगे बढ़ती है : समाज जैसा कुछ 'दिखता' नहीं, व्यक्ति दिखता है, तो समाज व्यक्ति–समष्टि ही हो सकता है। पर इस दिशा में 'व्यक्तित्व' की ही सत्ता को लेकर समस्या खड़ी होती दिख सकती है : क्योंकि 'दिखता' तो व्यक्ति भी नहीं है; जो दिखता है, शरीरमात्र ही होता है; उसका 'व्यक्तित्व', जो सामान्य विषयि–भाव को ऊह्य रखता है, वह दिखता नहीं है।

विषयित्व की सामान्यता में रूप लेती समाज–चेतना व्यक्ति–ऊर्ध्व होती है – व्यक्ति को अपने विषयित्व में ही इस स्व–ऊर्ध्वता का बोध रहता है। समाज को जब हम 'आत्मचेतना' से विशेषित करते हैं, तो उस चेतना सामान्य की ओर इंगित करते हैं जो विषयित्व–सामान्य की प्रत्यङ्मुखता में उभरती है। इस प्रत्यङ्मुखता में चेतना अपने पीछे हटती हुई अपनी ओर उन्मुख होती है : अपने आप को – अपने आत्म को – देखती है। या यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहना चाहिये कि उसकी उन्मुखता अब मात्र अपने से बाहर नहीं होती, जैसी कि पशुओं में है, अपने प्रति भी हो जाती है। पर, कहना न होगा, कि यह व्यापार व्यक्तिगत स्वसंवेदन का – मेरे (व्यक्ति के) अपने को जानने–देखने का संवेद नहीं। इसे आत्मचेतना के मेरे मानसिक अनुभव जैसा नहीं कहा जा सकता। यह अनुभूत स्वसंवेद के सीमित वलय से परे रूप लेता है, व्यक्ति के अपने को अनुभूत–करते मन से ऊर्ध्व की बात है। व्यक्ति में उतरती है यह आत्मचेतना, उसमें उपजती नहीं। 'आत्मचेतना' का तात्पर्य यहां चेतना सामान्य की प्रत्यङ्मुखता है, जो हमारे विषय–विषयि–भाव में निहित आत्मोन्मुखता–के–साथ–उभरती–जगदुन्मुखता में हमारी व्यक्ति–अनुभूत आत्म–चेतना बन कर जागती है। यही हमें स्वतंत्र व्यक्ति–बनाती स्व–संकल्प–प्रेरित अस्मिता देती है, और मुझ–व्यक्ति के लिये ज्ञातृत्व, भावयितृत्व की उस यात्रा के द्वार खोलती है जिसकी हम ऊपर चर्चा कर आये हैं।

व्यक्ति का संकल्प इसीका लक्षण और रूपायण है। यह स्पष्ट ही औचित्य, श्रेय, विवेक की सामान्यता को ऊह्य रखता है : सामान्य–में–घर–करता–हुआ 'मेरा' होता है। मैं इसका वाहन होता हूं। धर्म को लीजिये। व्यक्तियों के परस्पर–भाव को धारण–करता धर्म व्यक्ति के स्व–तंत्र संकल्प को ऊह्य रखता हुआ भी व्यक्ति–तंत्र नहीं होता, उसके स्व–अर्थ का साधन नहीं होता; हो तो धर्म नहीं होगा। धर्म–बोध व्यक्ति को स्व से ऊपर रखता हुआ, उसके संकल्प–कर्तृत्व–मय कर्म को (जड़ या पाशविक) परतंत्र क्रिया मात्र से अलग करता हुआ विवेक–निष्ठित स्वातंत्र्य का आधार देता है। यह स्वातंत्र्य बनता ही व्यक्ति की उस अस्मिता में है जो स्व के राग–द्वेष, इच्छातंत्र से ऊपर होती है, वैसे ही जैसे ज्ञातृत्व और भावयितृत्व में। इन्हीं की तरह प्रमाणान्वेषी होती है कर्तृत्व की अस्मिता।

हां, धर्म बनता व्यक्तियों के पारस्पर्य में है; विविक्त व्यक्ति के अपने संकल्प को ऊह्य रखता हुआ बनता है, पर बनता पारस्पर्य में है। है। यों कहा जा सकता है कि स्वतंत्र–पर–अनन्य व्यक्तियों के समूह के बिना अकल्पनीय है। इसलिये अचंभा नहीं कि समाज को व्यक्तियों का यूथ–विशेष मानना युक्त ठहरता दिखता है, और यों व्यक्ति की सत्ता को 'वस्तुत्व' का विशेष आसन देकर समाज को व्यक्ति–समष्टि का आक्षेप कहने–समझने का रास्ता लिया जा सकता है। पर हम ऊपर देख आये हैं कि विषयित्व की सामान्यता में मेरा प्रत्यङ्मुख आत्मचेतन विषयी–भाव स्वभावेन ही अन्य–सामान्य होता है। इसी अन्य–सामान्यता में हमारा (मनुष्य का) व्यवहार – या कहिये समाज – रूप लेता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

फिर भी आग्रह हो सकता है कि 'मैं आत्मचेतन हूं' इसका मैं ही बोध करता हूं, और इस बोध की धरती पर मुझे यह अनुभव होता है कि मैं अनन्य हूं, मेरा स्वबोध – या स्वसंवेद, या आत्मचेतना कहिये – मेरी है, निजस्व हैं। हां, अन्य को भी यह बोध होता है, और यह मैं उसके व्यवहार से, उसकी बातों से जानता हूं, पर उसका स्वबोध नितांत उसका होता है, मेरा नहीं : यही आत्मचेतना है, और यों वह होती ही व्यक्तिगत है। ऊपर जिसे समाज–चेतना कहा गया उसमें ऐसे स्व या आत्म के बोध का अनुभव ही जब नहीं, तो उसे 'आत्मचेतना' का नाम देने का भी अर्थ नहीं बनता : 'अननुभूत आत्मचेतना, या अपने आप में आत्मचेतना', इसका क्या सार्थक आशय हो सकता है?

पर सोचिये। जिसे मैं 'अपनी' आत्मचेतना कहता हूं उसे 'मेरी' कहने का भी आशय क्या? माना वह चेतना 'मुझमें' होती है, पर वह विषयित्व सामान्य में स्थित रहती ही मुझ में होती है। इस आत्मचेतना के 'आत्म' को मैं 'मेरा' नहीं पाता, एक सामान्यता के प्रत्यङ्मुख भाव में ही उभरता पाता हूं, जहां चेतना अपने पीछे हट कर अपनी ओर मुडती है। मुझे इसी रूप में अनुभूत होती है। इस अनुभव को नितांत 'मेरा' कहने का क्या अर्थ बन सकता है? हम देख आये हैं कि चेतना का यह रूप मेरे स्व से, मेरी अनन्यता से, ऊपर उठ कर ही बनता हैय वह मुझ–सीमित तो नहीं ही होता है। ऐसा हो तो मेरा यह अनुभव कि 'मुझसे स्वतंत्र से एक बाह्य–जगत् है', इस अनुभव को भी मुझ–सीमित समझना होगा। पर मैं अगर जानता हूं कि इस क्षेत्र में 'मेरा' अनुभव किसी ऐसे 'होने' या होने के व्यापार की ओर संकेत करता है जो अपने आप में है, तो उस होने या उस व्यापार को मेरे अपने स्वकीय होने से अविच्छिन्न भावेन बद्ध या अविनाभूत कहने का कोई अर्थ नहीं बनता। आत्मचेतना का होना स्पष्ट ही ऐसा ही होना है, या 'व्यापार' कहिये (जो अधिक उचित होगा), जो 'मुझे' अनुभूत होता हुआ भी 'मेरा' नहीं होता। हां, वह मेरे अनुभव में, मेरे बोध में, प्रकट होता है; पर यह बात ही और है। क्योंकि यहां यह देखिये कि उसका मुझ में होना मुझे जो मनुष्य–भाव देता है, वह मेरी अन्य–सामान्य अस्मिता को आधार बनाता हुआ समाजों की सृष्टि करता है, जिनका अपना आत्म संस्कृति और उसकी आत्मसाधना होती है, जिसका 'मैं' अपने को अंग पाता हूं, जिससे अपने को प्ररोचित पाता हूं।

एक बात और सोचें। अंतर–विषयित्व से समाज बनने की बात करनेवाले व्यक्ति को अनन्यभावेन आत्मचेतन ही नहीं अनन्यभावेन स्वार्थमय भी मान कर चलते हैं, बल्कि पशु से उसमें विशेष ही यह देखते हैं कि वह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपने स्वार्थ के प्रति आत्मचेतन होता है : वह अपने विलक्षण आत्मचेतन बुद्धिकौशल के साथ अपने स्वार्थ की – अपने कामात्म की – तृप्ति–पूर्ति के लिये अपने आप को पशु से कहीं समर्थतर दक्षता के साथ नियुक्त कर सकता है, और करता है (पशुओं का होना ही अब लगभग उस पर निर्भर है!)। स्वार्थ के उद्देश्यों की पूर्ति अन्य के बिना संभव नहीं। इसलिये व्यक्ति की अनन्य चेतना अपने स्वार्थ में अनन्य रहती हुई भी अपनी स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही अन्यों की चेतना से परस्परता की एक व्यावहारिक (या कहिये काम–चलाऊ) बुनावट बुनती है (या कहिये बुनने को बाध्य होती है)। परस्परता, इस दृष्टि में, अन्योन्य–स्वार्थ पर आधारित परस्परता है जो मेरी और अन्यों की स्वार्थ–चेतना के बीच एक बनियों जैसी आपसदारी खड़ी करती है, एक समझौता उभरता है, एक समय–बंध की धरती तैयार होती है, जिसकी नींव पर एक (लिखित या अलिखित) नियम–और–दण्ड व्यवस्था बनती, निभाई जाती है। यही हमारे अंतरविषयित्व का मर्म है। समाज की आपात–प्रतीत–होती आत्चेतना का मूलस्तंभ है।

पर विचार की इस दिशा में धर्म की कोटि का निषेध ही निहित है, या यों कहिये कि उसे कामात्म स्वार्थ में ही अपचित कर लेने का उद्यम है। पर हममें अन्य–सामान्यता के साथ जो परस्पर–भाव उभरता है वह धर्म को अपने मूल में ऊह्य रखता है : हममें स्वार्थ के साथ परार्थ सहज ही गुँथा होता है। 'धर्म' में निहित पर–को–आत्मसम–रखती प्रवृत्ति को स्वार्थियों–के–बीच–खड़ा–मध्यस्थ–समझौता–कह कर निचला नहीं कर दिया जा सकता। धर्म जिस श्रेयबोध के साथ जन्म लेता है, उसमें अन्य को ही नहीं जीवमात्र को आत्मसम रखने की उदारता होती है। अन्यथा अहिंसा जैसे आदर्श की कल्पना ही नहीं हो सकती। समझौता तो एक सौदा भर होता है, स्व–स्वार्थ, स्व–सुविधा, स्व–लाभ के लिये साधा जाता हैय वहां हिंसा, वंचना का निषेध केवल नीति का उपायकौशल हो सकता है, 'उचित" या 'श्रेय' कुछ नहीं। वहां 'मेरी' 'साधना', या नीति, यही होनी चाहिये कि मैं उस समझौते को किसी तरह धोखा दे सकूं, उसके चंगुल से बच कर अपने स्वार्थ पसारा फैलाऊं। फिर किसी उर्ध्वतर परस्पर–भाव की, अभ्युदय, कल्याण की.... बात बेमानी हो जाती है। समझौता तो सौदा होता है और यह किसी से छुपा नहीं है कि सौदा अपने आप में साध्य नहीं होता, स्वार्थ के लिये ही साध्य होता है : उसके दंड को वंचना दे सकें तो समझौते को ताक पर रख दे सकते हैं; रख देना ही चाहिये! पर हमारा औचित्यबोध इस कोटि में नहीं समा सकता। हम धर्म को अपने आप में साध्य मानते हैं। उसे स्वार्थ से अलग रखते हैं, चाहे उसके रास्ते चल न पायें, या चलना ही न चाहें।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ज्ञातृत्व और भावयितृत्व की तरह ही कर्तृत्व मनुष्य में सहज ही स्व से ऊपर रह कर ही उसका 'अस्मि' होता है। श्रेयबोध कर्तृत्व का बीज है। इस बोध के बिना कर्म की बात सार्थक नहीं ठहरती। कर्म को उपायबुद्धि के कौशल में अपचित नहीं कर दिया जा सकता। बुद्धिकौशल पशु में भी होता है। पशु–व्यवहार में, उसकी चेष्टा में, उपादेयता बुद्धि की, बुद्धि–कौशल की उपलब्धि अनायास की जा सकती है। पशु–चेष्टा में हम अनुमान पर आधारित प्रयत्न सहज देख सकते हैं। उसकी प्रवृत्ति में कर्तृत्वाभिमान का होना भी संगत जान पड़ सकता है। पर पशु में इस कर्तृत्व–बोध की छाया ही देखी जा सकती है, क्योंकि इस बोध का स्वबोध नहीं होता। पशु में उस अस्मिता की बात नहीं की जा सकती जो चेतना की प्रत्यङ्मुखता में स्थित होती है। तभी उसकी प्रवृत्ति को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। और तभी पशु के 'कर्तृत्व' को 'कर्म' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कर्तृत्वाभिमान जिस अस्मिता में रूप लेता है, वह ज्ञातृत्व और भावयितृत्व की तरह ही स्वार्थ–कामात्म स्व से ऊपर उठ कर – प्रत्यक् हो कर – रूप लेती है। यही उसका स्वातंत्र्य है, और इसी में हमारा संकल्प जागता है : श्रेय को, उचित–अनुचित–विवेक को ऊह्य रखता जागता है। यह कर्तृत्व जिस अस्मिता के साथ जागता है, वह पशुत्व की स्वार्थ–मात्र–परतंत्र प्रवृत्ति से ऊपर उठ कर बनती है। उचित–अनुचित–विवेक इस स्वातंत्र्य को ऊह्य रखता हुआ, मनुष्यभाव–निष्ठ है। भर्तृहरि जब कहते हैं, इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये। आचण्डाल मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्।। तो मनुष्यभाव के इसी तथ्य की ओर उनका इंगित है। तभी आगे की उनकी उक्ति है : आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते (वाक्यपदीयम्, 1, 40–41)। आशय यह कि पुण्य और पाप की कोटियां मनुष्य में स्वभावजात है, शास्त्र का इन कोटियों पर विमर्श, विधि–विधान, ये इस स्वभावजात सहज औचित्यबोध को आधार बनाते हैं; तर्क इस सहज तथ्य का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता।

हमने ऊपर ज्ञानेन्द्रिय और भोगेन्द्रिय की भी बात की। हमारे यहां ज्ञानेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय की भी बात की गई है। पर कर्मेन्द्रिय क्या? उसमें इन्द्रियत्व कैसा? हम यह मान भी लें कि शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् है तो भी ज्ञानेन्द्रिय जैसी – चक्षु, श्रोत्र.... जैसी – वह कौन सी इन्द्रिय या इन्द्रियां होती हैं जिन्हें अलग से कर्म की इन्द्रिय या इन्द्रियों के रूप में पहचाना जा सके? ज्ञानेन्द्रिय की शरीर में अलग से पहचान होती है (जिसका शरीरगत होना उसके भोगेन्द्रिय रूप में और भी साक्षात् होता है), पर वैसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अलग से 'इदम्' कही जा सकनेवाली कर्मेन्द्रिय कहां? हां, कर्मेन्द्रियों में हाथ, पाँव, उपस्थ, जैसे शरीर के प्रत्यक्ष अंगों को गिनाया गया है। पर इन्हें 'इन्द्रिय' कहने का क्या अर्थ? उत्तर में कह सकते हैं कि ज्ञानेन्द्रिय (और भोगेन्द्रिय) का भी इन्द्रिय होना – उनका इन्द्रियत्व – शरीरगत नहीं बोधगत होता है, तभी इन्द्रिय को इन्द्रियातीत माना गया है (हालांकि भूलना नहीं चाहिये कि इन्द्रिय शरीरगत न रहे तो उसका इन्द्रियातीत भाव भी नहीं रहेगा : चक्षु–गोलक न हो तो बाह्य जगत् का दर्शन भी नहीं होगा)। पर इस संदर्भ में ध्येय यह है कि इन्द्रिय अपने स्वरूप में शरीरगत हो न हो, वह बाह्य–जगत् के बोध का माध्यम या द्वार होती है : इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियभोग दोनों को ऐसे बाह्य बोध की कोटियां कहा जा सकता है। या यों कहिये कि इन्द्रिय के सन्निकर्ष से विषय–विशेष (देशकालगत विषय–विशेष) विषयी की संवित् में जागता है (ज्ञान और भोग इन दो रूपों में जागता है)। पर जिन्हें कर्मेन्द्रिय कहा गया है, वे स्पष्ट ही किसी बाह्य विषय–बोध का माध्यम नहीं होतीं, चाहे वे भी व्यापृत देशकालगत जगत् में ही क्यों न होती हों। उलटे, कह सकते हैं कि कर्मेन्द्रियां विषयों के प्रदत्त संबंधों को, तद्गत वस्तुस्थिति को, अन्यथा करने में व्यापृत होती हैं : इस व्यापार में विषयी विषय को अपने तईं – अपनी तरह से, अपने लिये – साधने में रत होता है। यह बोध का व्यापार नहीं है, चाहे बोध इसका (अनिवार्य) अंग होता हो। तो, बाह्य (देशकालगत) जगत् में कर्मेन्द्रिय अन्यथाकरण का करण या साधन होती है, ज्ञान या भोग की तरह ग्रहण का करण या साधन नहीं। या यों कहिये : कर्मेन्द्रिय ग्राहक की ग्राह्य पर व्यापृति में सहायक होती है, ज्ञान और भोग की तरह ग्राह्य की ग्राहक मात्र नहीं होतीं। यों कर्मेन्द्रिय को किसी परोक्ष सी, दूर की लक्षणा से ही 'इन्द्रिय' कहा जा सकता है। पर, हां, ज्ञातृत्व की तरह ही जिस शरीरी के कर्म में 'कर्मेन्द्रिय' साधन होती है, वह 'कर्तृता' विषयी विषय से तटस्थ हो कर ही कर्तृत्व की कोटि को प्राप्त होता है। तभी पशु में कर्म की बात नहीं की जा सकती : पशु का विषयी विषय–सात् रहता है, उसका बुद्धिकौशल भी लक्षणा से ही 'उसका' कहा जा सकता है, उसके पीछे आत्मचेतन आत्मबोध नहीं होता, या अत्यंत क्षीण होता है; तभी उसके कर्म की – या ज्ञान की – कोई व्यवस्थित परंपरा नहीं बनती, जैसी मनुष्य में बनती है। पशु के कर्म में प्रकृति–सिद्ध, तज्जाति–स्वभाव–सिद्ध, व्यष्टिगत जिजीविषा से ऊर्ध्व किसी अर्थ का उद्देश्य या एषणा नहीं होती जो सचेतन परंपरा को जन्म दे। या यों कहिये कि पशु में कोई पुरुषार्थ साधना नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होती, क्योंकि इस साधना में ऊह्य स्वातंत्र्य ही नहीं होता। इस बात में संकेत यह भी है – या कहिये कि 'इस बात में निहितभाव से उपपादित' यह भी है – कि कर्म का बीज, उसकी नाभि हमारे सामान्य विषयित्व के, प्रत्यङ्मुख आत्मचेतना के, स्वातंत्र्य में है, उसके स्व मात्र से ऊर्ध्व उद्देश्यता–बोध में।

यह बात कर्मेन्द्रिय की धारणा में भी निविष्ट जान पड़ती है। कर्मेन्द्रिय की धारणा के संदर्भ इस तथ्य पर ध्यान दें कि कर्मेन्द्रियों की सूची में पहली ही कर्मेन्द्रिय वागिन्द्रिय है। स्फुट ही, वाक् को – भाषा को – किसी भी रूप में ज्ञानेन्द्रिय (या भोगेन्द्रिय) की तरह शरीरगत नहीं कहा जा सकता। हां, वाक् को क्रमेन्द्रिय इस अर्थ में कहा जा सकता है कि वाक् 'कर्म' को स्वतः ही शरीर से उठा कर शरीरी की प्रत्यक्–भूमि पर ला रखती है। आत्मचेतना के उस विषय–विषयि–भाव में ले आती है जो देशकालगत नहीं। जैसे विचार। वाक्–'इन्द्रिय' के माध्यम से हम हाथ पाँव की तरह बाहर बाह्य जगत् में ही व्यवहार नहीं साधते, अंतः–कर्म भी करते हैं, क्योंकि वागिन्द्रिय के विषय देशकालगत ही नहीं होते, देशकाल से अनायास ऊपर–उठे विषय भी होते हैं, जैसे बुद्धि–विषय। तभी हम विचार–कर्म की, कला–कर्म की बात कर सकते हैं। बल्कि हमारा व्यवहार भी रूप की ही नहीं, नाम की भी अपरिहार्य अपेक्षा रखता है, नाम के बिना संभव नहीं है। और 'नाम' भाषा के प्रत्यक्–भाव में अधिष्ठित रहता हुआ 'रूप' को भी अंतःविषय बना देता है, विचार के वलय में ला रखता है। हमारा व्यवहार अंतः और बाह्य के युगलभाव से बनता दिखता ही है। कला–कर्म भी स्पष्ट ही वाक्–स्तरीय कर्म ही है – अगर 'वाक्' को शब्दमयी भाषा तक सीमित नहीं रखा जाये, प्रतीक–व्यवस्था मात्र को 'वाक्' कहा जाये : संगीत तो इस अर्थ में भाषा से भी अधिक वाक्–मय होता है, क्योंकि ध्वनि से बना संकेत या अर्थमय प्रतीक होता है। हां, बनने के बाद व्यवहार की दूसरी उपादेय वस्तुओं की तरह ही कला की निर्मितियां बाह्य–जगत् का अंग हो जाती हैं : व्यवहार का अंग हो जाती हैं – पर स्पष्ट ही आत्मचेतन स्वातंत्र्य में व्यवहार की आठपहरी धरती से ऊपर रहती हैं (हमारा व्यवहार ही कब उपादेयता तक सीमित होता है!)। पर विचार में भी – जिसे निःसंकोच ही अबाह्य अंतःकर्म कह सकते हैं – उसमें भी अन्यथाकरण – संयोजन–वियोजन – साभिप्राय, सोद्देश्य कुछ साधने की चेष्टा उस कर्म का मर्म कही जा सकती है। बल्कि, कर्म का स्वातंत्र्य यहां और उज्ज्वल प्रकट होता है। वाक्–कर्म तो क्या, वाक् को – भाषा को ही– हम देशकालगत जगत् की वस्तु नहीं कह सकते!

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कर्म मात्र के मूल में संकल्प की नींव रहती है। पर उसमें द्रष्टृत्व की तटस्थता भी होती है : हमारी प्रत्यक्–चेतना का शास्ता–नियोक्ता भाव (जिसकी हम ऊपर बात कर आये हैं) उसमें स्फुट उजागर होता है। उसमें एक व्यापकता होती है। वह प्रवृत्ति मात्र पर व्यापक होता दिखता है। ज्ञातृत्व, भावियितृत्व पर भी : या कहिये, हमारी किसी भी अर्थ साधना पर, हमारे पुरुषार्थ के सारे पसारे पर व्यापक होता है संकल्प। और उसके साथ बिंधा औचित्यबोध। क्योंकि हम कुछ भी साधें, 'यह उचित है या नहीं, श्रेय है या नहीं', यह प्रश्न साथ अनुस्यूत रहता है।

कर्तृत्व का अपना स्वतंत्र आत्मविमर्श भी होता है जो ज्ञातृत्व और भावयितृत्व की तरह ही अपने विवेक का स्वतंत्र प्रमाण–बोध रखता है। श्रेय क्या, इसके प्रमाण का मूल यहां बड़े स्पष्ट रूप से विषय से दूर विषयी की प्रत्यक् सत्ता की ओर झुकता हुआ उभरता है। यह ठीक है कि व्यवहार में हम कुछ नियम, या कहिये उसूलों या साधारण धर्मों की, या, कर्म के औचित्यतत्त्वों की – कसौटी बनाते हैं, इन्हें कर्तृत्व के क्षेत्र में सत्य की : और यो 'वस्तुत्व' की संज्ञा भी देते हैं। ये विचार–विषय भी होते हैं, इन पर हम विमर्श भी करते हैं। पर विचार–विमर्श यहां गौण होता है, या आनुषंगिक होता है : बाहरी बात होती है (जैसी भावन में, कला में)। कर्म का उत्स हमारी जिस प्रवृत्ति–प्रेरणा या प्ररोचना में होता है, वह हमें सीधे हमारे विषयित्व की गुहा में ले जाती है; हमारे आत्म के मूल में, और वहीं विवेक का आधार और प्रमाण हम पाते हैं, जितना हम उधर बढ़ सकें। संशय वहां भी रहता है, घोरतम संशय रहता है; पर इस संशय का समाधान भी वहीं निहित रहता है, हमें मिले न मिले, पर यह बोध हममें जागता रहता है। संशय का यह घोर धर्म–संकट की गहन उद्वेलना में उजागर दिखता है, जब हम क्या करें, श्रेय क्या यह प्रश्न हमें सब कुछ से : अभ्यस्त व्यवहार, शील, औचित्य–बोध से ही नहीं, प्रवृत्ति मात्र से, ज्ञान से, विचार से, भाव से, सब कुछ से हटा कर अभिभूत कर लेता है, असहाय, वित्रस्त कर देता है। गीता इसका गंभीरतम दृष्टांत है, श्रेय क्या, इस प्रश्न का विमर्श जहां सीधे और सहज गति से प्रवृत्ति के निगूढ़ मूल की ओर बढ़ता है : आत्म की ओर बढ़ता है।

इस बात से यह भी उपपन्न होता है कि कर्तृत्व के श्रेयोन्मुख – श्रेयार्थ सत्य की ओर प्रवृत्त – प्रामाण्यबोध का अपना स्वायत्त आत्मविमर्श होता है, जिसे निदिध्यासन का नाम दिया जा सकता है। यह विचार की तरह शब्दों में नहीं होता, न व्यंजना जैसी कोई अर्थ–वृत्ति यहां काम करती दिखती है। इन दोनों में एक द्रष्ट्रा और दृश्य का, या कहिये ग्राहक और ग्राह्य का,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भेद ऊह्य है, जो यहां बनता नहीं दिखता। 'श्रुति' की, 'आकाशवाणी' की, अंतःवाक् की, बात की गई है। पर वाक् यहां किसी अवाक् साक्षात् को ही वाणी देती है। इस साक्षात् की ओर बढ़ने में ज्ञातृत्व और भावयितृत्व दोनों का अनुषंग भी उभरता दिखता है, पर इसे अनुषंग ही कहा जा सकता है, कर्तृत्व का अपना प्रेरणा–मूल, या अपनी प्रज्ञा नहीं।

कर्तृत्व में हमारी प्रवृत्ति के स्वातंत्र्य की मूल प्रेरणा या प्ररोचना ही मानो घर करती दिखती है। इस प्रवृत्ति का अपना अर्थ–संधान है, या सत्य–संधान कहिये, जिसका हम अनुभव कर सकते हैं। ज्ञातृत्व और भावयितृत्व की तरह ही यह भिन्न दिशायें भी लेता दिखता है। पुराने दो शब्दों के सहारे दो व्यापक दिशाओं की, या मार्गों की, बात की जा सकती है : प्रवृत्ति और निवृत्ति। इन्हीं के गन्तव्य या उद्देश्य को अभ्युदय और निःश्रेयस् का नाम दिया गया है। अभ्युदय को साधारण तौर पर व्यवहार के कल्याण के रूप में देखा गया है। धर्म अगर पारस्पर्य है तो इसे धर्म के आदर्श के रूप में भी देखा जा सकता है : स्व–संकल्प–स्वातंर्त्य के साथ पर–स्वातंत्र्य–चेता और साधक होना, परस्पर–भाव के साथ सहज सद्भाव व्यवहार–सौषम्य, शांति, श्री, मैत्री, प्रेम का परिवेश, आवह साधना – या पुराने शब्दों में कहिये तो – सत्–युग की सिद्धि, उसके अवतरण की ओर बढ़ना, यह धर्म् का आदर्श है। अभ्युदय की इस धारणा में 'धर्म' के अर्थ में वह ध्वनि स्पष्ट है जहां धर्म काम और अर्थ के साथ अविनाभावेन जुड़ा है : धर्म काम और अर्थ की 'सार्थक' 'सर्वोदयमयी' साधना का साधन होता है, और यही उसका 'पुरुषार्थ' है।

पर धर्म अपने आप में भी पुरुषार्थ है; तो, उसे काम और अर्थ के साथ त्रिपुटी में बांध देना उसे छोटा कर देना भी है। अभ्युदय का क्षेत्र अर्थ और काम से कहीं व्यापक है। बल्कि पुरुषार्थ उसे ही कहना चाहिये जहां हम काम और अर्थ मात्र से ऊपर को उन्मुख होते हैं। काम और अर्थ हमारी जिजीविषा के अपरिहार्य अंग हैं, पर अपने आप में पुरुषार्थ नहीं हो सकते : अर्थ – अन्नसाधन, समष्टि–व्यवस्था – और काम – कामना – ये पशु में भी होते हैं, बड़े सुगठित होते हैं, 'पुरुष' इनकी परतंत्रता से उठ कर ही बनता है। तभी धर्म अपने आप में पुरुषार्थ है। लेकिन फिर यह भी कहना होगा कि पुरुषार्थ का ही क्षेत्र व्यापक है। हमने ऊपर ज्ञातृत्व और भावयितृत्व के बुद्धि–विषयों में प्रसृत होने की बात की। इनकी साधना भी पुरुषार्थ ही है। और इस साधना में हम साध्य अर्थ का उदय – अपने होने का ही उत्कर्ष – अभ्युदय, देखते–पाते ही हैं। फिर धर्म की तरह ही इनकी साधना हमारे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यवहार का अभिन्न अंग होती है – हमारा व्यवहार ही इनको प्रतिष्ठा देता है, इनकी परंपराओं को, प्रतिभा को, धरती देता है, उदय को उत्तरतर संभ्व कर पाने की ललक पालता रहता है। पुरानी प्रज्ञा कहती ही है कि गृहस्थ–धर्म सब धर्मों का मूल है प्रवृत्ति हो या निवृत्ति, दोनों को घर वही देता है। हमारे यहां तो निवृत्ति का पुरुषार्थ, मोक्ष, जिसे परम पुरुषार्थ कहा गया है, उसे भी गृहस्थ–धर्म पर निर्भर कहा है। पर निवृत्ति के ही नहीं, प्रवृत्ति के भी पुरुषार्थ हैं। दोनों की अपनी परंपरायें भी होती हैं। ये सभी व्यवहार की अपेक्षा रखती हैं। व्यवहार के मूल गृहस्थ धर्म के बिना न प्रवृत्ति की साधना हो सकती है, और न निवृत्ति की।

हम अकसर निवृत्ति ही में ही पुरुषार्थ का सार देखते हैं – पुराना संस्कार है! पर अगर निवृत्ति में ही पुरुषार्थता को प्रतिष्ठ मानें तो निवृत्ति का ही अर्थ यहां व्यापक लीजिये। यह देखिये कि हमारी अस्मिता ही निवृत्ति में बनती है। हमारा जगद्भाव जिस विषय–विषयी द्वैध में, द्वंद्व में, बनता है उसका स्पंद ही निवृत्तिमय होता है। पशुभाव से उत्क्रांत मनुष्यभाव बनता ही विषयी की उस प्रत्यक्–गति में है जो विषय से हट कर, उससे निवृत्त होकर बनती है। यही हमारी अस्मिता का बीज है। और यही अस्मिता हमारे व्यवहार को भी रूप देती है; पर यही हमारे व्यवहार को धर्म का दिगंत भी देती है; हममें पुरुषार्थ की साध जगाती है, हम ज्ञान, भाव, कर्म सब में अर्थ की सिसृक्षा के साधक हो जाते हैं। इसे अपने श्रेय के रूप में देखते–पाते हैं। हमारा संकल्प स्वभावेन अर्थोन्मेष की ओर, या कहिये अभ्युदय के बहु–आयामी क्षितिज की ओर, उन्मुख रहता है।

ज्ञान, भाव, कर्म के अभ्युदय की साधना को प्रवृत्ति का मार्ग कहा जा सकता है। यहां अभिमुखता विषय की ओर होती है, विषयी की ओर नहीं। पर लक्ष्य है कि यह प्रवृत्ति मार्ग भी विषयी की प्रत्यक् यात्रा में बनता है, उसके बिना संभव नहीं। या कहिये, निवृत्तिं के बिना संभव नहीं। विषयों का अवगाहन, सिसृक्षा, सार्थक विषयोन्मुखता ही, बनती विषयि–उन्मुखता में है। हम विषय में जितना उतरते हैं, अपने आप को उतना ही अपने विषयित्व के भीतर उतरता पाते हैं। विषय से हट कर, विषय–असंस्पृष्ट विषयी की ओर बढ़ती निःसंग, बल्कि निर्विषय निवृत्ति में ही विषय का सत्य, उसकी संभावना के आवरण खुलते दिखते हैं।

तो, अचंभा नहीं कि हम स्वभावेन, अपने अंतःहृदय में ही, विषय से पूरी तरह हट कर विषय से अछूते एकांत विषयी को पा लेने की भी उदग्र एषणा पालते हैं। हमारी सार्थक जगदुन्मुखता में ही जगद्विमुखता का बीज उप्त है। अपने यहां तो हम इसे परम श्रेय कहते ही रहे हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्पष्ट ही विषयोन्मुखता और विषयविमुखता में यहां घोर विरोध उभरता दिखता है। पर इनमें अविरोध भी देखा ही गया है। जैसा कि वैदिक मनीषा में और उससे भी सहज अवधेय रूप में प्राचीन उपनिषदों में प्रकट है। चेतना के जिस व्यापार में यह विरोध बनता है, वहां सहज परस्पर–भाव भी निहित देखा जा सकता है : प्रत्यङ्मुख चेतना पराक् रहती हुई प्रत्यक् होती है। मानो अपने ही अर्थ में उतरती हुई, उसे बाहर भी उत्सृष्ट करती चलती है। इस बात को हम अपने विषय–विषयि–स्वरूप के तत्त्व में भी देख–परख सकते हैं। अस्मिता का होना आत्मद्रष्टृत्व की मांग करता है : मेरा मैं अपने को देख न पाये तो मुझे मैं का बोध ही नहीं होगा (जैसा कि पशुओं में नहीं होता)। यह द्रष्टृत्व विषयित्व की सामान्यता में रूप लेता है; जितना अपनी ओर मुड़ता है, अपनी विषयिता को सामान्य से सामान्यतरता की ओर बढ़ता पाता है। सामान्यता द्वैत से, व्यावृत्ति से बनती है। पर परम सामान्यता अव्याकृत ही नहीं होती, द्वैत से भी ऊपर उठी होती है। उसे विशुद्ध निर्विषय चिन्मात्र भी कह सकते हैं। पर विषयी की इस आत्मोन्मुखता के साथ – या कहिये आत्मारोहण के साथ – अवरोह भी आत्मनिहित दिखता है। चित् को हम अद्वैतोन्मुख ही नहीं, द्वैतोन्मुख भी पाते हैं, और इस अवरोह यात्रा को अविद्या कहने की कोई अनिवार्यता नहीं। विषय को चित् का आत्म–विस्फुटन भी कहा जा सकता है। इसका संकेत हम अपने द्रष्टृत्व में भी पाते हैं। हमारे द्रष्टृत्व में चेतना का प्रकाश ही अपने को विषय बनाती आत्मचेतना के आत्मद्वैत के साथ उभरता दिखता है। हमारी अस्मिता की वृत्तियां और उनसे युगनद्ध विषय–संपदा के आयाम, इस आत्मद्वैत के साथ अंतः से बाहर की ओर खुलते दिखते हैं। हम पराक् से प्रत्यक् की ओर मुड़ते हुए चेतना के आरोह–क्रम के साथ ही विषयों के वैभव के दिगंत की भूमा को भी प्रसृत होता देखते–पाते हैं। इस भूमा की संभावना का अनंत भी अव्याकृत ही होता है : मानो प्रत्यङ्मुख चेतना के निस्सीम को उसके बहिर्मुख वृत्तियों में रूप देने को उन्मुख होता है। पराक्–प्रत्यक् के द्वैत को भी मानो अद्वैत के परम की ओर उन्नीत करता बढ़ता है। हमारा अस्मिता–निष्ठ द्रष्टृत्व, जो हमारे होने–पाने का केन्द्र–बिन्दु है, वह भी इसी क्रम में उभरता है।

हमारी अस्मिता ज्ञातृत्व, भावयितृत्व और कर्तृत्व की आकूति लिये प्रत्यक्–पराक् दोनों दिशाओं की एक साथ पथिक होती है। 'मैं कौन हूं?' (या, और युक्त रूप से कहें तो, 'मैं क्या हूं?' – मेरा स्वरूप, मेरा तत्त्व क्या है? – यह प्रश्न मेरी अस्मिता के साथ ही मेरी चेतना के आत्मद्वंद्व में जाग उठता है। मेरे भीतर एक विचित्र भेदाभेद में घर करता जागता है, जहां मैं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपने भीतर ही अपना पराया होता हूं। अपने परिवेश को भी पराया पाता हूं, पूछता हूं 'यह क्या है, जहां मैं हूं?, इसके साथ मेरा संबंध क्या है?, कोई संबंध है भी क्या?'। पर यह भी कि 'संबंध होना क्या चाहिये'? : या इसी प्रश्न के मर्म को यों रखा जा सकता है : 'संबंध जो दिख रहा है वह संशयित जान पड़ता है; तो फिर वह वास्तव में, अपने सत्य में, स्वरूप में, क्या है'? यों 'यह क्या है' का जगदुन्मुख प्रश्न 'मैं कौन हूं', में अनुरणित उभरता है। और साथ ही यह बोध भी लिये जागता है कि 'यह जो दिखता है, दृष्ट है, यही सब कुछ नहीं है'। यों, नचिकता जैसी अदृष्ट–उन्मुख आकूति का संकेत हममें स्पष्ट है। पर इसमें प्रत्यक्–पराक् द्विमुखता भी निहित देखी जा सकती है, जिसे हम अपनी प्रत्यङ्मुखता का मर्म भी कह सकते हैं। अदृष्टोन्मुखता का यह भाव धर्म की (रिलिजन के अर्थ में धर्म की) – सार्वभौम आस्था–श्रद्धा में सहज रूप लेता है। अपने को अपने वास्तव से च्युत पाता है। हमें स्वभाव से ही अदृष्ट का साधक बना देता है, जिस अदृष्ट को हम यहां लोक में भी रूप देने की एषणा पालते हैं। अदृष्ट हमारे लिये लोकोत्तर ही नहीं है, हम लोक में भी, अपने इहलौकिक होने में ही, अदृष्ट का बड़ा जीवंत आयाम देखते–पाते हैं। 'मैं कौन हूं' का प्रश्न 'हम कौन हैं' से अभिन्न है, और अदृष्ट के इस प्रश्न से बिंधा रहता है कि 'मुझे। हमें होना क्या चाहिये?'। हम आदर्श पालते हैं। अपने को, अपने परिवेश को उस अदृष्ट के अनुकूल सचमुच अपना–सा बनाने में जुट जाते हैं जो है नहीं, पर जो होने का सत्य है।

यों, हमारी प्रत्यङ्मुखता हमें आत्मोन्मुख करती हुई हममें आत्म–अतृप्ति जगाती है जो हमारी आत्मसाध्यता का बीज है। आत्मचेतन विषयित्व की अपने से अभिन्न रह कर अपने को भिन्न करती, अपने को विषय बनाती युगनद्धता को हमने विषय–विषयी की संज्ञा दी है। पर यह आत्मोन्मुख, अस्मिता–को–देखता–पालता–चलाता विषय–विषयी एक उर्ध्वतर, व्यापकतर चेतना में विलीन होता दिखता है। या कहना चाहिये, उस चेतना को द्योतित या व्यंजित करता है (क्योंकि 'दिखने' की बात उसके विषय–विषयि–द्वन्द्व या उभय–भाव के भीतर ही की जा सकती है)। यही हमारा अदृष्ट है जिसे हम दृष्ट के नेपथ्य में, दृष्ट के साथ पाते हैं।

(7)

बात लंबी हो गई है। एक (संक्षिप्त, पर मैं समझता हूं, प्रासंगिक) विमर्श के साथ अंत करना चाहूंगा। अभी ऊपर हमने जिस पर–सामान्य अव्याकृत की बात की उसमें विषयित्व की पराकाष्टा ध्वनित है। पर जो 'पर'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है उसे क्या विषय–विषयि–भाव से ही बाहर नहीं होना चाहिये? बल्कि, हम क्या दो बाह्य द्वारों की कल्पना नहीं कर सकते : एक विषयी की ओर से तो एक विषय की ओर से।

हमने विषयी की प्रत्यक्–यात्रा की बात की है। हां, उसके आरोह के साथ अवरोह की भी बात की है, जिसे उसकी पराक्–यात्रा के रूप में देखा–समझा है। पर क्या एक सर्वथा प्रतीप दृष्टि यहां संभव नहीं है? हम बात को विषयी की ओर से नहीं देख कर क्या क्या विषय की ओर से नहीं देख सकते? क्या हम विषयी को अलग रख कर विषय की प्रत्यक् और पराक् यात्रा की बात नहीं कर सकते? हमने अपने विमर्श में विषयी को प्रधानता दी है। विषय को गौण रखा है। उसे विषयी से उद्भूत–उत्सृष्ट–सा समझा है। पर यों सोचिये। विषय और विषयी, इस युगनद्ध भाव के मेरु पर अगर एक ओर विषयी है तो दूसरे ओर विषय है। क्या हम अपने विमर्श में विषय को प्रधान नहीं रख सकते? अगर विषय–विषयि–भाव के मेरु पर विषयी की ओर बढ़ते हुए हम अव्याकृत पर–सामान्य चेतन सत् तक पहुँचते हैं और वहां व्याकृति का बीज देखते हैं, तो क्या यही बात विषय की ओर से नहीं की जा सकती? वहां हम विषय से बाहर अव्याकृत सामान्य अचेतन या अचित् तक पहुँचने की बात क्यों नहीं कर सकते! फिर इसे 'जड़' का स्वरूप–तत्त्व कहते हुए जगत् को, जीव को, मनुष्य को, विषयी को, आत्म को, इसीके 'आरोह' का रूपायण कह सकते हैं (हां, 'आरोह' से 'श्रेय' की व्यंजना को हटाते हुए और उसे 'जटिलता के विस्तार' जैसे किसी अर्थ में समझते हुए)। इसमें अयुक्त क्या? आज का विचार हमें इसी ओर झुकाता भी है।

लेकिन यहां पहले तो यह सोचिये कि ऐसी कोई भी 'बात' जो विमर्श विचार की मांग करती है, वह हमें विषय की ओर नहीं विषयी की ओर ही ले जाती है। विषयी के बिना विषय की कल्पना संभव नहीं; ऐसा विषय होगा ही क्या, सिवा संपूर्ण तमिस्र के? हम निर्विषय–विषयि–भाव की बात कर सकते हैं, पर यह विषय से हट कर विषयी की ओर बढ़ते हुए ही की जाती है। तभी विषयी के 'निर्विषय' होने' की बात सहज युक्त जान पड़ती है। पर 'निर्विषयित्व' का क्या अर्थ होगा? सिवा अव्याख्येय अंधता के?

पर, चलिये, फिर भी हम कल्पना करें कि यहां 'बाहर' की दो दिशायें हैं, क्योंकि विषय–विषयी, इस एक मेरु के दो प्रतीप छोर हैं। और यों, विषयी की ओर बढ़ते हुए हम अगर विषयी से बाहर एक अव्याकृत की बात कर सकते हैं, तो विषय से परे दूसरे अव्याकृत की क्यों नहीं? पर ऐसा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कोई अर्थ बनता नहीं दिखता है : अव्याकृत में इस पृथकत्व का अर्थ क्या हो सकता है? वहां भेद या व्यावृत्ति बन ही कैसे सकती है? अव्याकृत अवाच्य हो, यह तो समझ में आता है, पर उसमें स्वभाव–द्वित्व की बात कोई अर्थ नहीं रखती। वह एक ही हो सकता है। विशुद्ध सन्मात्र ही नहीं चिन्मात्र। कहा जा सकता है विषय–विषयि–भाव उससे उत्सृष्ट होता है और उसकी व्याकृति का साधन होता है : बहुधा व्याकृति का साधन होता है, क्योंकि बहु–रूप लेता है।

पर फिर एक बात और सोचिये। विषय–विषयि–भाव के परे जो है उसे बुद्धानां विषयः कहा गया है। इस कथन में यह व्यंजित है, निहित है, कि वह असत्–असत् दोनों से परे है, चतुष्कोटि–बाहर है – उसे न सत् कहा जा सकता है, न सत्–असत्, न असत्–सत, और न सदसद्विलक्षण। 'बुद्धानां विषयः' में 'विषय' शब्द परम अनिर्धार्यता का द्योतक है।

हमने विषय–विषयि–भाव को जैसे समझने का प्रयास किया है, उसमें अनिर्धार्यता की धारणा अंतःनिविष्ट है। हमने विषय–विषयि–भाव के बहुधा होने की ही नहीं, उसमें अपूर्व उदय, उत्क्रांति की भी बात की है। उसमें साध्यता देखी है : ऐसी साध्यता जो अर्थ की निस्सीम संभावनामयता में बसती है। इस संभवनामयता को किसी नियत क्रम–परिणाम में नहीं बाँधा जा सकता : उत्कर्ष की किसी क्रम–रेखा पर रख कर नहीं समझा जा सकता। उसमें अर्थ–सृजन का जो क्रमोल्लंघी उन्मेष उभरता दिखता है, वह उत्प्लुति–प्राण है, उसकी अभूतपूर्वता अचिन्त्य है। किसी अर्थ में निर्धार्य नहीं है। वह सत् के साथ असत् को मिथुनभाव में युगनद्ध रखता हुआ बनता है : सृजन–संभावना की अनिर्देश्य, अचिन्त्य अभूतपूर्वता को अन्याथा समझना संभव नहीं।

हां, हम इस उन्मेष को पाते देश–काल में हैं। यह जड़ को आदि में रखता दिखता है। यों, जड़ को इसका आदि ही नहीं, इसका कारण मानना संगत जान पड़ सकता है। शेष को जड़ का विकार। या व्याकृति कहिये। पर जड़ से प्राण, चेतन जीव, और आत्मचेतन मनुष्य, इस अभावित उदय यात्रा को किसी कार्य–कारण–भाव में नहीं ढाला जा सकता। इसे यादृच्छिक कह देना तो इसे जानने–समझने से ही किनारा कर लेना है। काल में यह रूप ही लेता है, हमारी साध्यता में प्रकट होता है, पर सृजन–प्रज्ञा को, उसके अनिर्धार्य उन्मीलन को, न कार्य–कारण भाव के वलय में डाला जा सकता है, और न देश–काल के घेर में।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक तीखी आपत्ति हो सकती है : चेतन जीव, और उनमें भी मनुष्य, ये तो बह्माण्ड के अतिक्षुद्र नगण्य–से अंश हैं! हमारा ब्रह्माण्ड, सूर्य, तारे, नक्षत्र, इनका अपार विस्तार है, यह जड़ का ही विस्तार है। जीव और फिर मनुष्य, ये नगण्य ही नहीं, बहुत बाद की उपज हैं। इन्हें किसी विराट् तत्त्व–कल्पना का आधार बनाना उचित नहीं। इन्हें हम जड़ के विकार के रूप में देखें तो ही बात अधिक युक्त ठहरती दिखती है।

पर यह सोचिये कि हम जैसे भी देखें सृष्टि और उसका मूल, उसका अर्थ, ये अभावित रहस्य ही ठहरते हैं। यहां हम कल्पना का ही सहारा ले सकते हैं। और कल्पना की धरती हमारा हमारी साध्यता में बसता हमारा अनुभव ही हो सकता है। इस कल्पना के बिना कि कुछ और हो सकता था, कुछ नही भी हो सकता था, हम सृष्टि के बारे में सोच ही नहीं सकते। पर बात केवल तर्क की नहीं हो सकती। सृष्टि का आदि क्या, इसका स्वरूप क्या, इस विषय में हम जितने भी अभ्युपगम खड़े करें, सब अन्यथाभाव के रहस्य से उन्मुख रहते हैं। पर हम रहस्य से उन्मुख होते हैं तो किसी अर्थ का प्रकाश पाने को आतुर होते हैं। निरी पहेली नहीं बूझना चाहते। आज विज्ञान भी सृष्टि को, उसके आदि को आँकने–समझने के लिये एक विचित्र कल्पना खड़ी करता दिखता ही है : एक परम आदि–विस्फोट की बात करता है। इस विस्फोट का अधिष्ठान क्या? आधिष्ठान जो भी हो, वह सृष्टि के बाहर और सृष्टि के साथ उभरते देश–काल के परे ही हो सकता है। इस अधिष्ठान की कल्पना अव्याकृत सत् की–सी कल्पना उभरती है, क्योंकि इस आधिष्ठान में अधिष्ठित किसी बीज–जैसी सत्ता से अणु–परमाणु, ऊर्जा, इनकी योजना, गुँथाव, बुनावट ही नहीं, देश–काल, जिसमें यह घटित हुई, ये सब जन्म लेते हैं, या कहिये व्याकृत होते हैं। विज्ञान की ऐसी मान्यता उभरती दिखती ही है। पर फिर यह बीज, जड़ का ही बीज क्यों? इस सृष्टि–बीज में जड़ की ही संभावना थी, वही वस्तु है, अन्य कुछ नहीं, अन्य कुछ जो प्रतीत होता है, वह अवस्तु है : यह बात बनती नहीं दीखती। हम अगर जड़ के प्रति पूर्वाग्रह–ग्रस्त न हों तो ऐसा कहने की क्या युक्ति बनती है? हम अगर ऐसे किसी सृष्टि–बीज को मानें ही तो उचित यही बनता है कि इस बीज को हम प्राण, मन, चेतना, आत्मचेतना, इनका और इनकी उदय यात्रा का भी बीज मानें। इस बीज में विषयित्व और उससे उभरती हमारी आत्मचेतन विचार–चेतना निहित न हो तो न विज्ञान होगा न ऐसे किसी बीज की कल्पना! और विषयित्व अगर जड़ का कार्य या जड़–को–आधार रखता यादृच्छिक कुछ है तो वह अस्वतंत्र होगा, और फिर प्रमाण और युक्ति का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यापार ही निरर्थक होगा। यह भी सोचिये कि विषयी के बिना अपने आप में क्या है, यह तो स्वरूपेण अनिर्धार्य ही रहने को बाध्य है! अगर जड़ से आत्मचेतना के उदय को हम जड़–मूल में रखें तो वहां इस उदय की संभावना को भी रखना होगा। या फिर सृष्टि को जड़ का भ्रम या प्रपंच जैसा कुछ कहना होगा। विज्ञान को प्रमाण–रखते चिंतकों ने ऐसा कहा भी है। पर अगर सृष्टि भ्रम है तो भी विषय–विषयि–भाव की अपेक्षा रखती है। उसके बिना भ्रम की कोटि नहीं बनती। और यह कोटि फिर ऐसे विषय–विषयि–भाव की अपेक्षा रखती है जो अपने आप में भ्रम न हो।

यहां उभरता यही है कि विज्ञान के लिये भी सृष्टि एक रहस्य ही है। उसका आदि अनिर्धार्य है। पर एक बार सृष्ट होने के बाद सृष्टि अगर विज्ञान – या किसी भी विचार द्वारा – निर्धार्य है, तो यह निर्धार्यता विचार की अपनी साध्यता, अपनी संभवानाओं में ही बहुरूपी हो सकती है। पर विज्ञान में तो वह एक छलनामयी निर्धार्यता ही बनती दिखती है।

यह चर्चा और विस्तार चाहती है। पर मैं समझता हूं कि उसके लिये अलग उपक्रम होना चाहिये। यहां इतना ही। अस्तु।

ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, अजमेर रोड,
जयपुर-302006

◆◆◆

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बहुसंस्कृतिवाद का सांस्कृतिक संकट

पुनर्वितरण, पहचान एवं मान्यता की राजनीति का यथार्थ और मिथक

विश्वनाथ मिश्र

बहुसंस्कृतिवाद ने अपने आप को एक ऐसा चलायमान संकेतक (फ्लोटिंग सिगनिफायर) बना लिया है जिसमें इसका अर्थ अपने में कम और उन पहेलियों में अधिक निहित है। अधिकांश में ये पहेलियाँ अनियोजित (डिसकर्सिव) प्रयोगों के सन्दर्भ से उत्पन्न होते हैं और उनमें सामाजिक प्रगति को रेखांकित करने वाले विभेद एवं संघनन न्यूनाधिक रूप से समक्रमिक दिखते हैं (होमी के भाभा 1998 : 31)। बहुसंस्कृतवाद एक ऐसे बड़े थैले जैसा है जिसमें अल्पसंख्यक विमर्श से लेकर उत्तर–औपनिविशिक आलोचना और समलिंगीय अध्ययनों से लेकर आदिम काल्पनिकता तक सब कुछ समाहित है (होमी के भाभा 1998 : 31)। बहुसंस्कृतिवाद के अन्तर्गत किसी न किसी तरह से (लूजली) समूह प्रतिनिधित्व एवं अधिकार, आव्रजित समूहों की स्थिति एवं अधिकार, अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की पहचान एवं स्थिति तथा नवोदित सामाजिक आन्दोलनों को सम्मिलित किया जाता है (पॉल केली 1002 : 01)। विल किमलिका बहुसंस्कृतिवाद के विमर्श को सात क्षेत्रों में बांटकर इसे इनमें से सभी या किसी एक से जुड़ा हुआ विचार मानते हैं। वे सात क्षेत्र हैं– आव्रजित समूहों की संस्कृति, अल्पसंख्यक राष्ट्रवाद की वैधता, नस्लवाद से जुड़े ऐतिहासिक अन्याय–दासता एवं पृथक्करण, मूल निवासियों के सांस्कृतिक प्रश्न, समूह प्रतिनिधित्व का मामला, धार्मिक समूहों की माँग एवं उनका समायोजन एवं जेण्डर समानता के प्रश्न (विल किमलिका 2010: 296–97)। यदि ऐसा कहा जाय कि बहुसंस्कृतिवाद हमारे समय का एक ऐसा विमर्श है जिसमें विचार, चिन्तन एवं व्यावहारिक सामाजिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक प्रश्नों के सबसे बृहद् परिप्रेक्ष्य को सामाविष्ट किया गया है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

बहुसंस्कृतिवाद जैसे विशाल कलेवर वाले विचार सम्प्रदाय के लिए आन्तरिक विविधता एवं विसंगतियों से मुक्त होना प्रायः सम्भव नहीं है। यह विविधता एवं विसंगति यदि बहुसंस्कृतिवाद को संस्कृति एवं समानता (जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कि बहुसंस्कृतिवाद का मूल स्वर है) और एकता तथा विविधता से जुड़े विवादों के किसी सर्वसमावेशी हल की ओर ले जाते हैं तब तो यह प्रश्नशनीय है। किन्तु, बहुसंस्कृतिवाद की आन्तरिक विविधता एवं विसंगति इसे यदि संस्कृति विहीन होती जा रही संस्कृतियों के मध्य समायोजन के द्वारा एक अप–सांस्कृतिक प्रतिमान की ओर ले जाते हैं या समायोजन की किसी ऐसी योजना को बढ़ावा देते हैं जिसमें पूँजीवादी–उदारवादी एवं उपभोक्तावादी संस्कृति से अनुरूपण की रणनीति को ही बढ़ावा मिलता है तब निश्चय ही यह पालिटिक्स ऑफ च्वाइस के बजाय पालिटिक्स ऑफ कॉम्पल्सन का विषय है।

बहुसंस्कृतिवाद की आन्तरिक विविधता एवं विसंगति

बहुसंस्कृतिवाद शब्द का प्रयोग विल किमलिका एक छतरी (अम्ब्रैला टर्म) की तरह करते हैं और कहते हैं कि इसी अर्थ में कुछ बहुसंस्कृतिवादियों ने बहुसंस्कृतिवाद का एक सामान्य सिद्धान्त (कॉमन थ्योरी) विकसित करने का प्रयास किया है। ऐसे अनेक चिन्तकों में किमलिका, भीखू पारिख का भी उल्लेख करते हैं (विल किमलिका 2010:297)। किन्तु, वही किमलिका बहुसंस्कृतिवाद के कनाडियाई अनुभव (जहाँ इसकी जड़ों को गहरे उतरने की उम्मीद की जा रही है) को यूरोपीय अनुभवों (जहाँ इसकी जड़ों ने जमीन पकड़ने के साथ–साथ उखड़ने की भी शुरूआत कर दी है) की दृष्टि से देखने की आलोचना भी करते हैं (केथ बेन्टिंग एवं विल किमलिका 2010 : 43–44)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बहुसंस्कृतिवाद के अनेक देशज प्रतिमान होते हैं या हो सकते हैं। ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्ररिप्रेक्ष्य की विविधता की दृष्टि से किमलिका की यह स्वीकारोक्ति समीचीन है। किन्तु, तुलनात्मक अर्न्तदृष्टि विकसित करने एवं उसे सांस्कृतिक समायोजन की समस्याओं के स्थितिपरक समाधान हेतु विकल्प बनाने की सम्भावना की दृष्टि से यह स्वीकारोक्ति निराशाजनक ही है। निश्चय ही यहाँ किमलिका और उनके समर्थक यह तर्क उपस्थित कर सकते हैं कि कनाडा के अनुभव को यूरोप के चश्में से न देखने के आग्रह को इतना विस्तार देने की क्या जरूरत है? वह जरूरत यह है कि वास्तव में बहुसंस्कृतिवादी आपस में घुले–मिले तीन प्रेरकों (ज्ञानोदय, संरचनावाद और राष्ट्रवाद का आधुनिक पश्चिमी प्रतिमान) से व्युत्पन्न अपने ही समाज के सार्वभौमिकतावादी आग्रहों से आधे–अधूरे तरीके से बचना चाहते हैं।[1] बचाव के इस प्रयास में वे भूल जाते हैं कि उनके द्वारा भी सार्वभौमिकतावादी आग्रहों को ही प्रश्रय दिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जा रहा है।[2] हकीकत यह है कि सत्ता के सार्वभौमिकतावादी आग्रहों के साथ लोकमानस की स्थितिपरकता का संवलयन किस प्रकार किया जा सकता है ? यह दृष्टि यूरोप के लिए जितनी बड़ी पहेली ग्रीक काल में थी उतनी ही बड़ी पहेली यह आज भी बनी हुई है।[3]

अब बहुसंस्कृतिवाद के आन्तरिक विविधता के दूसरे दावे और उसकी विसंगति पर विचार करते हैं। बहुसंस्कृतिवाद को परिभाषित करते हुए भीखू पारिख कहते हैं कि बहुसांस्कृतिक समाज या बहुसंस्कृतिवाद एक ऐसी अवधारणा है जो उपसांस्कृतिक विविधता[4], परिप्रेक्ष्यात्मक विविधता[5] एवं सामुदायिक विविधता[6] में से सभी और दूसरी तरह की विविधताओं को भी अभिव्यक्त करता है (भीखू पारिख 2000 : 3–4)। ऐतिहासिक सन्दर्भ की दृष्टि से देखा जाय तो विगत शताब्दी के सातवें दशक में कनाडा एवं आस्ट्रेलिया ने घोषित तौर पर बहुसंस्कृतिवाद को एक सरकारी नीति के रूप में अपनाया। इस दृष्टि से किसी समाज में विभिन्न संस्कृतियों के होने मात्र से वह बहुसांस्कृतिक समाज नहीं बन जाता है (क्योंकि सम्भव है कि वहाँ एक प्रभावी सांस्कृतिक समूह के समक्ष अन्य सांस्कृतिक समूह वंचित समूहों की तरह हों)। बल्कि, इसके लिए आवश्यक है कि सरकारी नीतियों में भी सभी संस्कृतियों को समान रूप से तरजीह दी जाती हो और अपनी संस्कृति के कारण कोई समूह पुनर्वितरण एवं मान्यता के लाभों से वंचित न किया जाता हो। इस दृष्टि से बहुसंस्कृतिवाद विभिन्न अन्तः–संबंधित प्रकरणों का समुच्चय है जो सांस्कृतिक पहचान (आइडेन्टीटी) एवं इस पहचान की मान्यता (रिकॉगनिशन) के लिए विभिन्न संस्कृतियों के मध्य विभेद को वैध मानता है[7] और उन्हें बनाये रखने के अवसरों की तलाश करता है (राजीव भार्गव 1999 : 1)। विभिन्नता के प्रति बहुसंस्कृतिवाद के आग्रहों को देखते हुए और मुख्यधारा की राजनीति एवं संस्कृति के वर्चस्व को खारिज करने के इसके प्रयासों को देखते हुए बहुसंस्कृतिवाद को उत्तर–आधुनिकतावाद का अन्तरंग अनुगामी (डेविड बेनेट 1998 : 1) मानना एक हद तक ठीक ही है। इस स्पष्टता के बावजूद भीखू पारिख ने बहुसंस्कृतिवाद पर ब्रिआन बैरी के आक्षेपों का उत्तर देने के लिए बचाव का जो तर्क उपस्थित किया है वह बहुसंस्कृतिवाद के आन्तरिक विविधता पर तो प्रकाश डालता है किन्तु उससे अधिक इसकी विसंगति को उजागर करता है।

पारिख लिखते हैं कि बहुसंस्कृतिवाद उदारवाद की तरह कोई समरूप विचार सम्प्रदाय नहीं है और एक आन्दोलन के रूप में अभी मात्र तीस वर्षों का है तथा सैद्धान्तिक परिपक्वता के लिहाज से तो यह डेढ़ दशक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ही पूरा किया है। उदारवाद की तरह इसके न तो प्रणेता हैं और न ही शास्त्रीय ग्रन्थ। यद्यपि उदारवादी–बहुसंस्कृतिवाद की चर्चा अधिक होती है किन्तु रूढ़िवादी, मार्क्सवादी, समाजवादी, प्रजातिवादी, सापेक्षतावादी, सार्वभौमिकतावादी और यहाँ तक कि व्यक्तिवादी और समुदायवादी–बहुसंस्कृतिवाद के भी प्रारूप हैं। अतः बहुसंस्कृतिवाद पर लगाये गये आपेक्ष एक तो जल्दी बाजी में लगाये गये आक्षेप हैं और इन आक्षेपों में बहुसंस्कृतिवाद को एक समरूप विचार सम्प्रदाय मानकर आक्षेप लगाये गये हैं (भीखू पारिख 2002:133–150)। यहाँ पारिख वास्तव में बहुसंस्कृतिवाद के बचाव के लिए इसकी विच्छिन्नता को ही आधार बना लेने का सलाह दे रहे हैं। किन्तु इस तर्क में तीन दोष अन्तर्निहित हैं। प्रथम, बहुसंस्कृतिवाद की विच्छिन्नता प्रायोजित विच्छिन्नता है। यदि यह इतना ही असमरूप विचार सम्प्रदाय है तो इसके विभिन्न प्रारूप नहीं हो सकते हैं। विभिन्न प्रारूप उसी विचार सम्प्रदाय के हो सकते हैं जिसमें सिद्धान्त और विचारधारा बनने के गुण एक साथ पाये जाते हों। इसके लिए कुछ मौलिक प्रस्थापनाओं पर आम सहमति की जरूरत होती है जो बहुसंस्कृतिवाद में है। फलतः इस पर लगाये गए आक्षेप छद्म रूप में आरोपित एकरूपता के तर्क के आधार पर निरस्त नहीं किए जा सकते हैं। द्वितीय, यदि बहुसंस्कृतिवाद इतना ही असमरूप विचार सम्प्रदाय है तो फिर इसके लिए भीखू पारिख को एक सामान्य सिद्धान्त (कॉमन थ्योरी) विकसित करने की क्या जरूरत थी। तृतीय, बहुसंस्कृतिवाद के किसी एक प्रतिमान की तुलना दूसरे से नहीं करने (किमलिका का तर्क) एवं समरूप विचार सम्प्रदाय मानकर आलोचना न करने (पारिख का तर्क) के तर्क को यदि आपस में मिला दिया जाय तो सबके अपने–अपने बहुसंस्कृतिवाद का प्रतिमान बनते देर नहीं लगेगी। इस हालत में बहुसंस्कृतिवाद का औचित्य क्या रह जायेगा ? बहुसंस्कृतिवाद के औचित्य को प्रामाणित करने के लिए तीन प्रश्नों का उत्तर समझना आवश्यक है। प्रथम, जब बहुसंस्कृतिवादी भी समुदायवादियों की तरह 'तटस्थ राज्य' का विरोध करते हैं और 'राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप' को आवश्यक मानते हैं तब समुदायवादियों के साथ बहुसंस्कृतिवाद का समुचित समायोजन क्यों नहीं हो पाया? द्वितीय, जब समतावाद भी वंचित समूहों के उत्थान में व्यक्ति की स्वतन्त्रता की बलि चढ़ाये बिना न्याय का प्रतिफलन देखता है, तब बहुसंस्कृतिकवाद के पृथक् धारा की जरूरत क्यों पड़ी? तृतीय, जब बहुसंस्कृतिवाद में भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सामुदायिक संस्कृति से अधिक वरेण्य है तब यह ज्ञानोदय के तर्क (विशेषकर अ–सामाजिक मानव एवं आणविक समाज की सार्वभौमिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवधारणा) से अपने को किस प्रकार अलग कर सकता है? इन प्रश्नों के उत्तर को समझने के लिए बहुसंस्कृतिवाद के सैद्धान्तिक एवं ऐतिहासिक विकास यात्रा की मीमांसा आवश्यक है।

बहुसंस्कृतिवाद की ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक विकास यात्रा : पुनर्वितरण एवं मान्यता की राजनीति

उपर वर्णित तीनों प्रश्न पुनर्वितरण की राजनीति एवं पहचान की राजनीति से संबंधित हैं और स्वतन्त्रता, समानता, न्याय तथा सामाजिक–संस्कृति के आलोक में पुनर्व्याख्या की अपेक्षा करते हैं। पुनर्वितरण एवं पहचान की राजनीति के विकल्प के रूप में इन प्रश्नों के आलोक में आधुनिक यूरोप में जिन दो विचार सम्प्रदायों (उदारवाद एवं समाजवाद) ने व्यवस्थागत आकार ग्रहण किया उनमें, स्वतन्त्रता, समानता एवं न्याय के प्रश्नों को ज्ञानोदय के तर्कों के साथ दो अलग–अलग रूपान्तरणों के माध्यम से समझने और सुलझाने का प्रयास किया गया। किन्तु इन दोनों में ही सांस्कृतिक प्रश्नों की अपने–अपने तरीके से उपेक्षा की गई। शुरूआती दौर में ज्ञानोदय ने जिसे प्रगति और विकास के रूप में परिभाषित किया था उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को आधुनिक बनना आवश्यक था। आधुनिक बनकर प्रगति और विकास के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र विवेक के प्रयोग में ही तब मानवीय गरिमा को अवस्थित माना गया और इसके प्रयोग की अधिकारिता में सभी को उनके पृष्ठभूमि का संज्ञान लिए बिना समान समझा गया। इस दौर में स्वतन्त्रता एवं विवेक का जिस अर्थ–सन्दर्भ में सर्वाधिक प्रयोग हुआ वह था यूरोप के मानव के द्वारा अपने को परम्परागत और मध्ययुगीन संस्कृति से मुक्त करना। मुक्ति के इस प्रयास को तब व्यक्ति के स्वायत क्षेत्र में ही रहने दिया गया और इस प्रयास में सबको समानरूप से सक्षम तथा सभी को समान रूप से मुक्तिकामी समझा गया। तब स्वतन्त्र विवेक का प्रयोग न करने की अक्षमता को व्यक्ति के स्वाभाविक इच्छा का विषय समझा गया और ऐसे व्यक्ति को मुक्तिकाम्यता से वंचित रहने के लिए अभिशप्त मान लिया गया। विकलांग, स्त्री, अश्वेत, श्रमिक, आदिम समूह इत्यादि के बहिष्करण को आधुनिकता की देहरी पर शुरू में इसी दृष्टि से देखा गया। जबकि, उक्त समूहों का बहिष्करण वास्तव में नवोदित संस्कृति, आर्थिकी, तकनीकी एवं राजनीतिक गतिकी के पार्श्वप्रभाव के परिणाम थे। इस तरह यह सर्वोत्तम की उत्तरजीविता का ही तर्क था जिसके कारण वंचित समूहों को अपने स्वतन्त्र विवेक के प्रयोग हेतु स्वयं की सक्षमता के भरोसे छोड़ दिया गया। इस पूरे प्रकरण में पुनर्वितरण के प्रश्न को 'छनन के सिद्धान्त' के द्वारा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वाभाविक रूप से हल हो जाने की उम्मीद की गई। यदि न्याय का प्रश्न उत्पन्न भी हुआ तो उसे पुनर्वितरण के इसी 'छनन सिद्धान्त' के तर्क और विवेक के स्वतन्त्र प्रयोग के आलोक में हल करने की कोशिश की गई। आश्यर्च तो यह है कि इन प्रयत्नों में नवोदित सम्प्रभुता–आधारित राज्य के राष्ट्र (मनोवैज्ञानिक एकता के लक्ष्य की प्राप्ति) के रूप में स्वाभाविक रूप से परिवर्तित हो जाने की अपेक्षा भी छिपी हुई थी। एक तरह से यह अपेक्षा नवोदित राजनीतिक–आर्थिकी एवं तकनीकी विकास के चकाचौंध से भ्रमित मानसिकता के अतिरिक्त कुछ और नहीं था और ऐसा ही इतिहास ने साबित भी किया।

जैसे–जैसे समय बीतता गया नवोदित आर्थिक, तकनीकी एवं राजनीतिक गतिकी ने व्यक्ति के स्वायत्त क्षेत्र पर राज्य के प्राधिकार को बढ़ा दिया। किन्तु, आधुनिकता द्वारा प्रक्षेपित मुक्तिकाम्यता की प्रत्याशा में कुछ स्वैच्छिक एवं कुछ बाध्यतामूलक प्रभावों के द्वारा एकरूपता को ओढ़ने के बावजूद[8] पश्चिमी राज्यों में अपने को राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करने की दिशा में आने वाली बाधाओं ने भी शिर उठा लिया। तब राज्य तो विभाजित नहीं हुए किन्तु पश्चिम के उन्नत राज्यों में दो राष्ट्र जरूर बनते नजर आये। इनमें एक अल्पसंख्यक–अभिजन पूँजीवादी निष्ठा की राष्ट्रीयता थी और दूसरी बहुसंख्यक–शोषित मजदूरों के निष्ठा की राष्ट्रीयता थी। यहाँ ज्ञानोदय द्वारा प्रस्तावित एवं पूँजीवादी–उदारवादी व्यवस्था द्वारा पोषित आधुनिकता के मुक्तिकामी संस्कृति को जिस मजदूर वर्ग से खतरा था उसमें भी सांस्कृतिक प्रश्न पृष्ठभूमि में थे[9] और पुनर्वितरण के प्रश्न प्रकट रूप में थे। फलतः तब पुनर्वितरण की राजनीति के द्वारा पश्चिम में मजदूर वर्ग का समावेशन प्रारम्भ किया गया। समावेशन के इस प्रयास में उपयोगितावाद, कल्याणकारी राज्य, सामाजिक न्याय और अन्ततः रॉल्सवादी पुनर्वितरण का प्रक्रियात्मक न्याय सामने आया। वास्तव में यही पश्चिम में बहुसंस्कृतिवाद का पहला सोपान है जिसमें आर्थिक हैसियत के परिप्रेक्ष्य से हासिये पर पहुँच गये समूहों को आर्थिक हैसियत देकर आधुनिकता के मुक्तिकामी संस्कृति में स्वीकारोक्ति हेतु भागीदार बनाया गया। परन्तु, यह सब एक ऐसे उपक्रम के माध्यम से हो रहा था जहाँ सबके लिए एक ही पहचान का सूत्र कार्य कर रहा था।

निश्चय ही यह पहचान की राजनीति की अपेक्षा पुनर्वितरण की राजनीति का हिस्सा दिखाई देता है किन्तु व्यावहारिक धरातल पर पुनर्वितरण की राजनीति और पहचान की राजनीति के बीच ऐसी कोई विभाजक रेखा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी नहीं खींची जा सकती जो सभी परिप्रेक्ष्य में एक समान रूप से लागू हो सके।[10] तथापि, एक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट है और वह यह कि आर्थिक हैसियत में उच्च पायदान के व्यक्ति को सामाजिक पहचान और प्रतिष्ठा न मिलना अपवाद की श्रेणी के मामले होते हैं। उच्च आर्थिक हैसियत के व्यक्ति के लिए सामाजिक पहचान की समस्या प्रायः सामजिक प्रतिमान के विरूद्ध उसके दावे से जरूर उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे उच्च हैसियत वाले व्यक्ति के द्वारा समलैंगिगता का दावा और इसे स्वीकृति न मिलना। किन्तु, यह एक ऐसी स्थिति है जो निम्न आर्थिक हैसियत वाले व्यक्ति पर भी लागू होती है। तथापि इतना अवश्य है कि उच्च आर्थिक हैसियत वाले व्यक्ति को सामाजिक पहचान की प्राप्ति के अभिप्रेरकों (शिक्षा, राजनीति, क्लबों की सदस्यता, संचार माध्यमों पर पकड़ आदि) तक आसानी से पहुँच मिल जाती है और इसी के लिए निम्न आर्थिक हैसियत वाले व्यक्ति को अधिक संघर्ष करना पड़ता है। फलतः पुनर्वितरण की राजनीति भी पहचान की राजनीति का अंग बन जाती है। भारत में जनजातियाँ अछूत नहीं हैं। न ही वे जाति व्यवस्था में आज के समय में उच्च पायदान पर रखे जाने और समायोजित किए जाने की माँग ही करती हैं। किन्तु, उनके लिए पुनर्वितरण की राजनीति वास्तव में पहचान की भी राजनीति है क्योंकि इसी से वे अपने समूह का उत्थान कर सकती हैं। दूसरी ओर आव्रजित समूहों के लिए पहचान की राजनीति वह पृष्ठभूमि तैयार करती है, जहाँ से वे पुनर्वितरण की राजनीति के लाभ को प्राप्त करने हेतु अर्ह होते हैं। इस पूरे प्रकरण में पहचान की राजनीति के आधार पर पुनर्वितरण की राजनीति के सुफल को ही प्राप्त करने का प्रयास दिखाई पड़ता है।

पुनर्वितरण की राजनीति एवं पहचान की राजनीति का एक ऐतिहासिक सन्दर्भ हमें सोवियत संघ के विघटन के साथ उत्पन्न हुए नृजातीय रूझान से भी प्राप्त होता है। पुनर्वितरण की राजनीति का तकाजा समाजवादी खेमें के बिखरे हुए घटकों को उदारवादी प्रतिमान को अपनाने की ओर जाने का तर्क प्रस्तुत करता है (आर्थिक बदहाली के कारण)। किन्तु, इस पूरे खेमे के बिखरे घटकों में नृजातीय उभार पहचान की राजनीति के महत्त्व को भी रेखांकित करता है। स्वयं यूरोप में ही उपयोगितावाद, कल्याणकारी राज्य, सामाजिक न्याय और अन्नतः रॉल्स के संविदावादी न्याय के जरिये पुनर्वितरण की राजनीति के परिचालन के लम्बे अनुभव के बाद भी पहचान की राजनीति के माँग का मुखर होना जो संदेश देता है उसे अब जाकर सुनने–समझने की कोशिश हो रही है। वैसे भी पहचान की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

राजनीति यदि पुनर्वितरण की राजनीति के सुफल को विफल साबित कर देने वाला हो तब शायद ही कोई पहचान की राजनीति का लाभ लेना चाहेगा। दो अलग–अलग उदाहरणों के माध्यम से इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। प्रथम, मान लीजिए कि गे एवं लेसबियन संबंधों को स्वीकृति मिल जाती है और वे वैवाहिक जोड़े की तरह रहने लगते हैं। किन्तु उन्हें आजीविका के सार्वजनिक पदों पर नियुक्ति हेतु निषिद्ध कर दिया जाता है। तब इस सामाजिक पहचान से जुड़े आर्थिक दण्ड को वास्तव में पहचान की राजनीति का संकीर्ण नजरिया ही कहा जाएगा और इसे बदलने की माँग की जायेगी। ऐसी स्थिति में पुनर्वितरण एवं पहचान की राजनीति का अलगाव कैसे सम्भव होगा। द्वितीय, मान लीलिए लिव इन रिलेशनशिप को मान्यता मिल जाती है और इस संबंध से जन्मे बच्चे को विधिक अधिकार नहीं दिए जाते हैं, तब इसे भी पहचान की राजनीति का संकीर्ण नजरिया ही कहा जाएगा और इसे बदलने की माँग की जायेगी। इस उदाहरण में पहली पीढ़ी पर पुनर्वितरण की राजनीति का लाभ न मिलने का तर्क नहीं उपस्थित होगा, बल्कि तर्क उपस्थित होगा पहचान को सम्पूर्णता में न ग्रहण करने का। वास्तव में पहचान की राजनीति की यही वास्तविकता भी है। इसका निहितार्थ यह है कि लोगों की टिकाउ पहचान के साथ–साथ भूमिका परिवर्तन से जुड़े पहचान में भी सामाजिक–आर्थिक लाभों से वंचित नहीं किये जाने की प्रत्याशा जुड़ी होती है।

अब तक के इतिहास में सभी सभ्यताओं में टिकाउ पहचान सांस्कृतिक भूमिकाओं एवं संबंधों से निर्मित होते रहे हैं और कालिक पहचान (ड्यूरेशनल आइडेन्टीटी) स्वैच्छिक भागीदारियों से उत्पन्न होते रहे हैं। इसी कारण बहुसंस्कृतिवाद के अन्तर्गत जैसा कि मेरा मानना है कि पुनर्वितरण एवं मान्यता की राजनीति पर सीमित सन्दर्भों में ही चर्चा हो रही है। इस बहस में तीन सन्दर्भों को समाविष्ट करने की आवश्यकता है। प्रथम, स्वैच्छिक भागीदारियों से उत्पन्न पहचान। द्वितीय, प्रदत्त सांस्कृतिक व्यवहार के अनुरूपण से व्युत्पन्न पहचान। तृतीय, इन प्रदत्त सांस्कृतिक व्यवहारों के अनुरूपण से स्वैच्छिक विलगाव से उत्पन्न पहचान। इन तीनों सन्दर्भों को एक साथ नहीं लेने पर पूरा का पूरा बहुसंस्कृतवादी विमर्श अवसर की समानता एवं विधियों के समान संरक्षण के तर्क को समावेशी बनाने के उपक्रम तक सीमित रह जायेगा। यह आगे चलकर पुनः प्रदत्त सांस्कृतिक व्यवहारों के साथ अनुरूपण और स्वैच्छिक विलगाव से उत्पन्न समस्याओं को जन्म देगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

यहाँ एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किए जाने की आवश्यकता है। वह प्रश्न यह है कि क्या आज का जो पश्चिम है उसमें सांस्कृतिक पहचान एवं मान्यता के प्रश्न को मान्यता की राजनीति के द्वारा हल किए जाने की गुजांइश है भी या नहीं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि पुनर्वितरण की राजनीति के किसी समीकरण के द्वारा मान्यता की राजनीति को हल करने की कोशिश की जा रही है। किन्तु इस प्रश्न पर विचार किए जाने के पूर्व यदि सांस्कृतिक विभिन्नता के प्रश्न को हल करने के लिए पश्चिम के इतिहास में व्यवस्थागतरूप धारण करके भी विफल साबित हो चुके समाजवादी प्रारूप पर भी विचार कर लेना जरूरी है। जिस तरह ज्ञानोदय के तर्कों की राजनीतिक परिणति उदारवाद में आधुनिकता के अनुरूप बनने के लिए परम्परागत संस्कृति को त्यागना आवश्यक था उसी प्रकार समाजवाद में भी शोषण से मुक्ति के लिए उत्पादन के संबंधो को क्रान्तिकारी बदलाव के द्वारा उन्मूलित करना आवश्यक था। यह क्रान्तिकारी बदलाव उत्पादन के संबंधों को जिस तरह से उन्मूलित करने का प्रस्ताव रखता है वह वास्तव में व्यापक सांस्कृतिक बदलाव भी है। प्रस्ताव की दृष्टि से यह बदलाव भी मनुष्य को अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक बना देना चाहता है। ठीक उसी तरह जिस तरह ज्ञानोदय के तर्कों में मानवमुक्ति हेतु उसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र बनाने के लिए अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक प्राणी के रूप मे कल्पित किया गया। पश्चिमी ज्ञानोदय में मानव की इस पहचान को प्रतिष्ठित करने के पीछे प्राचीन संस्कृति एवं सांस्कृतिक संबंधों में विवेकशीलता के अभाव का मापदण्ड रखा गया था। इसके विपरीत समाजवाद में सर्वहारा क्रान्ति से पूर्व की संस्कृति को शोषणपरक वर्ग संबंधों के पोषक होने के कारण उनका त्याग आवश्यक था। चूंकि संस्कृति रातो–रात निर्मित नहीं होती। अतः क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा तो वास्तव में अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक अवस्था में ही पहुँच जाता है। जहाँ उसे अपनी समाजवादी ऐतिहासिकता एवं समाजवादी सामाजिकता से समाजवादी संस्कृति का निर्माण करना है। क्रान्ति से पूर्व सर्वहारा जिस संस्कृति का सदस्य था वह न तो पहले वांछित थी और न ही क्रान्ति के बाद। यदि ज्ञानोदय के मानव एवं सर्वहारा क्रान्ति के बाद के मानव में कोई अवधारणात्मक अन्तर है तो वह मात्र यह है कि ज्ञानोदय का मानव अ–ऐतिहासिक, अ–सामाजिक एवं अहंवादी विवेक का मानव जबकि, सर्वहारा क्रान्ति के तत्कालवाद का मानव अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक होने पर भी सामाजिक विवेक (सर्वहारा के एकजूटता की निष्ठा) का मानव है।[11]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस दृष्टि से देखने पर सर्वहारा क्रान्ति के बाद जिस नवीन संस्कृति का निर्माण होना है वहाँ मनुष्य परिप्रेक्ष्य विहीन है। ठीक उसी तरह जैसे डिआन्टोलॉजिकल लिबरलिज्म का मानव परिप्रेक्ष्य विहीन है। इस परिप्रेक्ष्य विहीनता में पहचान एवं मान्यता की राजनीति के लिए अवकाश है ही नहीं। क्योंकि, यहाँ तो सांस्कृतिक पहचान का निर्माण होना है। सर्वहारा क्रान्ति के बाद यह सांस्कृतिक पहचान सामूहिकता के सौहार्द एवं अभावों से मुक्ति के बाद उदात्त मानवीय स्वतन्त्रता के परिवेश में विकसित होगी, ऐसी परिकल्पना मार्क्सवादियों– समाजवादियों की रही है। इसके विपरीत ज्ञानोदय को पोषित करने वाले उदारवादी राजनीतिक आर्थिकी में यह अहंवादी मानवीय विवेक के परिफलन में निर्मित होगी, ऐसा विचार रखा गया। इन दोनों ही व्यवस्थाओं में परिप्रेक्ष्य विहीनता का विचार नवनिर्मित संस्कृति में एकरूपता के विचार का पोषक है। यहाँ यह आपेक्ष लगाया जा सकता है कि बहुसंस्कृतिवाद के विमर्श में संस्कृति के प्रश्न को इतना तात्त्विक दृष्टि से नहीं देखा गया है बल्कि, यह अधिक व्यावहारिक दृष्टि रखता है और जिसकी मुख्यधारा संस्कृति, नागरिकता, सहभागिता, बहिर्वेशन, अल्पसंख्यकों एवं आव्रजित समूहों की समस्या आदि से संबंधित है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के इन्हीं व्यावहारिक पक्षों की समस्याओं का निदान बहुसंस्कृतिवाद का मुख्य उद्देश्य है। इस आक्षेप का प्रत्युत्तर दो तर्कों के माध्यम से दिया जा सकता है। प्रथम, यह कि तात्त्विक प्रश्नों को नकारने की परिणति ज्ञानोदय के अहंवादी विवेकशीलता को अपनाने की ओर प्रवृत्त होती है और यह प्रवृत्ति अन्ततः परिप्रेक्ष्य विहीनता की ओर ही जाता है। जबकि, बहुसंस्कृतिवाद परिप्रेक्ष्य विहीनता से उत्पन्न चुनौतियों को ही समझना और दूर करना चाहता है। द्वितीय, आज जिन्हें अधिक व्यावहारिक प्रश्न कहके उनकी तात्त्विकता की उपेक्षा की जाती है वहाँ आशय यह होता है कि विद्यमान समस्याओं को आज के धरातल पर ही देखा जाय और आज के विकल्पों में ही उनका समाधान खोजा जाय। यह तर्क स्वयं उदारवादी विकल्पों के इर्द–गीर्द घुमते रहने को तार्किक औचित्य प्रदान करता है। क्योंकि, आज जो कुछ प्रकट है वह उदारवाद, उसका पार्श्वप्रभाव और उसी के नए प्रस्ताव ही हैं। विवेचना के क्रम में इस तथ्य को विल किमलिका भी कुछ इस तरह से स्वीकार कर लेते हैं– ...पश्चिमी लोकतन्त्र के भीतर रहने वाले अधिकांश जातीय सांस्कृतिक समूह यह नहीं चाहते हैं कि उदारवादी समाज में आधुनिकता की ताकतों से उनकी हिफाजत की जाए। इसके विपरीत, वे चाहते हैं कि वे आधुनिक उदारवादी संमाजों में पुरी तरह से और समानरूप से भागीदारी करें (विल किमलिका 2010 : 27)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

 Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अब यदि ऐसे ही समूहों के लिए बहुसंस्कृतिवाद है तब जिनका उद्देश्य आधुनिक से आधुनिकतम होते जाना है तो इसका यही अर्थ हुआ कि बहुसंस्कृतिवाद एक पितृभावी सामाजिक– राजनीतिक संस्कृति[12] का प्रस्ताव है। किमलिका अनेक अध्ययनों[13] के हवाले से यह तर्क देते हैं कि यदि किसी समुदाय के सदस्य पश्चिमी उदारवादी–लोकतन्त्र से असहमति रखते हैं तब भी वे कोई गैर उदारवादी–समुदायवादी समाज नहीं बनाना चाहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि बहुसंस्कृतिवाद में चाहे जो भी तर्क गढ़े गये हैं वे औद्योगिक–उपभोक्तावादी, संस्कृति के साथ अनुरूपण को ही सांस्कृतिक माँग के रूप में पहचान सकते हैं। यह यथार्थ के धरातल पर समुदाचार (मास बिहैवियर) को संस्कृति के रूप में मान्यता देने की प्रवृत्ति है। निश्चय ही यदि शिष्टाचार अभिजन संस्कृति का पोषक हो तो समुदाचार का तर्क एवं औचित्य लोकतान्त्रिक एवं समावेशी होने के नाते स्वीकार्य हैं। किन्तु यदि जिसे आज जन–संस्कृति कहा जा रहा है वह यदि अभिजन संस्कृति का ही प्रक्षिप्त रूपान्तरण हो, तब भी क्या जन–संस्कृति के औचित्य की मीमांसा किए बिना वह प्रश्रय देने एवं अपनाने योग्य बतायी जा सकती है। निश्चय ही इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक नहीं हो सकता है। दूसरी ओर वास्तविकता यह है कि जिसे हम आज जन–संस्कृति कह रहे हैं वह वास्तव में अभिजन संस्कृति की ऐसी स्वैच्छिक जन स्वीकृति है जो बाध्यतामूलक, विकल्पहीनता का परिणाम है। किन्तु, उदारवादी शिक्षा, संचार माध्यमों के प्रभाव, वैकल्पिक जीवन दृष्टि को उदारवादी–पूँजीवादी शक्तियों के अनुगमन की बौद्धिकता से खारिज किये जाते रहने के लम्बे असर आदि के कारण जो जन–मनोविज्ञान आज बन चुका है, उसमें बाध्यतामूलकता एवं विकल्पहीनता के बीच का चयन भी स्वैच्छिक दिखता है। जबकि, वास्तविकता यह है कि आज की संस्कृति का मूल केन्द्रीकृत उत्पादन प्रणाली और उसके खपत के लिए बनाये गये ताने–बाने के इतर कुछ और है ही नहीं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए दो सादृश्यता मूलक प्रश्नों का उत्तर समझना समीचीन होगा। प्रथम, संस्कृति मनुष्य को पराश्रयी बनाती है या आत्मनिर्भर बनाती है? द्वितीय, संस्कृति मनुष्य को बहुकार्यात्मक बनाती है या अल्पकार्यात्मक?

उक्त प्रश्नों में से पहले प्रश्न का उत्तर होगा कि संस्कृति मनुष्य को आत्मनिर्भर बनाती है। यह आत्मनिर्भरता आरम्भ में जैविक बन्धनों के उत्क्रमण से आती है। जैविक बन्धनों से उत्क्रमित हो जाने की इच्छा आत्मचेतन होने की सहज अभिव्यक्ति है। आत्मचेतन दृष्टि से प्रकृति और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जगत् को देखने से 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की प्रतीति होती है। सांस्कृतिक विनिर्मितियों का यही भारतीय अर्थ–सन्दर्भ है। इस दृष्टि से इतर यूरोपीय दृष्टि में आत्म चेतना के पूर्व जगत् की चेतना आती है इसमें प्रकृति एवं जगत् के माध्यम से अपने को पहचानने की कोशिश होती है। यह बर्हिमुखी इन्द्रियों से बनी अपनी पहचान है। 'पर' के बाद यहाँ 'स्व' है। स्व का भान होते ही पर से संघर्ष एवं पर का अस्तित्व स्व का विरोधी दिखने लगता है। यहाँ स्व की रक्षा के लिए पर का विनाश या रूपान्तरण आवश्यक हो जाता है। इतिहास में पीछे देखें तो उदारवाद ने अपने औपनिवेशिक काल में पर का विनाश करने का मुहिम चलाया और वर्तमान में देखें तो उदारवाद अब नव साम्राज्यवाद के युग में बहुसंस्कृतिवाद के माध्यम से पर के रूपान्तरण में संल्गन है। उपयुर्क्त तर्क में विसंगति एवं अयथार्थ की खोज करने वाले अध्यताओं को तीन प्रश्नों पर विचार करना चाहिए। प्रथम, यूरोप के लोग जहाँ भी गये वहाँ धर्म, संस्कृति, अर्थव्यवस्था, विश्वदृष्टि एवं राजनीतिक व्यवस्था का बलात संहार या रूपान्तरण क्यों किया? द्वितीय, आज बहुसंस्कृतिवाद का सम्पूर्ण उपक्रम देशज राजनीति में जितना भी चल रहा है उतना अन्तराष्ट्रीय राजनीति में क्यों नहीं है। और क्यों आज भी बहुसंस्कृतिवादी राष्ट्रों के औद्योगिक घराने गरीब राष्ट्रों के जमीन, जंगल, जल को येन–केन प्रकारेण हस्तगत करना चाहते हैं? तृतीय, क्या पश्चिम की समृद्धि एवं वैभव पराश्रित राष्ट्रों के कीमत पर अर्जित नहीं है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर में पर का अस्तित्व स्व के लिए यदि विरोधाभाषी नहीं है तब यूरोपीय अनुभवों से पर के रूपान्तरण की इतनी विशाल मुहिम क्यों चल रही है? क्या एक समावेशी जीवन शैली के विकास के लिए जिसे उदारवादी–बहुसंस्कृतिवाद कहा जा रहा है, सभी सांस्कृतिक विभेदों का धीरे–धीरे उसी उदारवादी उपभोक्तावादी जीवन शैली में विसर्जन आवश्यक है (यद्यपि इस अनुस्युत सत्य को बहुसंस्कृतिवादी प्रकट नहीं करते)[14]। जबकि ऐतिहासिक यथार्थ यह है कि आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के उदय के पूर्व सभी सभ्यताओं की जीवन दृष्टि में साम्य था।

मूलगामी दृष्टि से विचार करें तो प्रकृति–संस्कृति, व्यक्ति–समाज, स्त्री–पुरूष, उद्योग–कृषि, सभ्य–असभ्य आदि का जो तीखा विभाजन आज बन चुका है वह भले ही संरचनावाद के 'द्विपदीय विपरीतार्थक' (बायनेरी अपोजिशन) का भाषायी कमाल दिखता हो किन्तु वास्तव में वह ज्ञानोदय के तर्क का आधुनिक सभ्यता में फलित होने का परिणाम भी है। यह परिणाम संस्कृति विषयक विमर्श को पश्चिमी ज्ञानोदय में ठीक से न समझने के कारण

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उत्पन्न हुआ है। वास्तव में पश्चिमी ज्ञानोदय में विकृति को ही संस्कृति समझ लिया गया। इस प्रस्थापना पर इन उदाहरणों के माध्यम से विचार करें– स्वार्थी होना संस्कृति है या विकृति। उत्तर होगा विकृति। अहंवादी होना संस्कृति है या विकृति। उत्तर होगा विकृति। मानवीय विवेक का अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक प्रयोग संस्कृति है या विकृति। पुनः उत्तर होगा विकृति। जब यह सब विकृति है तब पश्चिम के ज्ञानोदय का मानव सुसंस्कृत कैसे हो सकता है। क्योंकि, वह स्वार्थी, अहंवादी एवं अ–ऐतिहासिक तथा अ–सामाजिक ही बताया गया है। ज्ञानोदय का मानव एक सांस्कृतिक मानव कैसे बनेगा इसका एक दृष्टान्त हमें मैकियावेली के चिन्तन में मिलता है और वह है दण्डात्मक शक्ति के प्रयोग के द्वारा मनुष्य को सुसंस्कृत बनाया जाना।[15] इसी उत्तर की और भी तार्किक परिणति हमें हॉब्स के चिन्तन में मिलती है। हॉब्स एवं मैकियावेली के तर्कों के बीच जो फासला है वह यथार्थ में दण्डात्मक शक्ति को लोकतान्त्रिक रूप देने के तर्क का ही फासला है। इस सन्दर्भ में हॉब्स दण्डात्मक शक्ति को लोकतान्त्रिक आधार देता है[16] और मैकियावेली ऐसा नहीं कर पाता है। पर दोनों के ही चिन्तन में संस्कृति स्वैच्छिक नहीं है बल्कि आरोपित है। स्वैच्छिक तो दोनों के ही चिन्तन में अराजकता है। दोनों के ही चिन्तन में संस्कृति बाध्यतामूलक चयन का परिणाम है। मैकियावेली में यह बाध्यता राजा की ओर से उत्पन्न की जाती है। हॉब्स के चिन्तन में भी यह बाध्यता शासक के द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। फर्क बस यह है कि मैकियावेली के चिन्तन में (द प्रिंस का तर्क) लोगों को राजा चुनने का अवसर नहीं देता है जबकि हॉब्स के चिन्तन में लोग प्राकृतिक अवस्था से मुक्ति के लिए शासक को चुन लेते हैं।

अब विचार करें कि दण्डात्मक शक्ति के भय से कौन सी संस्कृति निर्मित होती है। ज्ञानोदय में कल्पित मनुष्य के संस्कृति विहीन होने का तर्क जहाँ तर्क के दृष्टिकोण (मध्य युगीन जड़ता, अन्ध विश्वास आदि से मुक्ति) से औचित्य पूर्ण है वहीं ऐतिहासिकता के दृष्टिकोण से यह जड़ विहीन है। ऐतिहासिकता के दृष्टिकोण से मध्ययुगीन सामन्त वर्ग का ही पूँजीपति वर्ग के रूप में रूपान्तरण हुआ। इस तरह सामन्तशाही में और सामन्ती संस्कृति में कुछ बदलाव तो हुआ पर सामन्ती हित नहीं बदले। इतना जरूर हुआ कि इन हितों को लोकतान्त्रिक जामा पहनाने का प्रयास अवश्य हुआ। इन प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि अभिजन संस्कृति को वैधता प्राप्त करने की गुजांइश में वृद्धि हुई और अभिजन संस्कृति तथा जन–संस्कृति के मध्य की चौड़ी खाई संकरी होने लगी। अभिजन–संस्कृति एवं जन–संस्कृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के मध्य कम होती हुई दूरी का कारण यह था कि जिस सामन्ती संस्कृति एवं हित का औद्योगिक एवं शहरी हितों में रूपान्तरण हो रहा था वहाँ आजीविका हेतु विस्थापित समूहों का एक बड़ा समुदाय जन–संस्कृति से ताल्लुक रखता था। इसी समूह पर शहरी एवं औद्योगिक हितों के अनुरूप अपने को ढालने का दबाव अधिक था। अतः जिस नवीन जन संस्कृति के निर्माण का उपक्रम आरम्भ हुआ उसमें जन ही अधिकाधिक रूप से अपने को परम्परागत संस्कृति से उन्मूलित करके अभिजन संस्कृति के अनुरूप बदलने का प्रयास किया। यह यूरोप में विभिन्न संस्कृतियों के स्व विहीन होते जाने का एक ऐसा युग था जिसमें अभिजन–संस्कृति के 'डायोनिसियाई' उच्चता का भी ह्रास हो रहा था। फलतः अभिजन–संस्कृति एवं जन–संस्कृति के मध्य घटती हुई दूरी में 'अपोलियाई' संस्कृति का ही विकास हो रहा था।यह अपोलियाई संस्कृति ही अभिजन–संस्कृति का वह प्रक्षिप्त रूपान्तरण है जो आज बहुसंस्कृतिवाद के नाम पर अन्य संस्कृतियों के लिए समावेशी आधार प्रदान करने की बात कर रहा है।[17] इस समावेशन में साहचर्य मूलकता नहीं है जो कि संस्कृति एवं सांस्कृतिक जीवन का एक आधार स्तम्भ होता है। आज जो साहचर्यमूलकता दिखाई भी देता है वह वास्तव में केन्द्रीकृत उत्पादन प्रणाली और बाजार की शक्तियों के द्वारा निर्मित की गई है। इस साहचर्यमूलकता का स्वरूप कुछ ऐसा है जहाँ व्यक्तिगत क्षेत्र (प्राइवेट स्फीयर) एवं लोकक्षेत्र (पब्लिक स्फीयर) में साहचर्य नहीं है बल्कि लोकक्षेत्र एवं व्यक्तिगत क्षेत्र की स्वायत्तता ही समाप्त हो गयी है।[18] व्यक्ति की सृजनशीलता को समरूप इकाइयों के उत्पादन की योजना एवं मशीनों की तार्किकता ने पृष्ठभूमि में धकेल दिया है। सबसे बढ़कर विशेषीकृत श्रम कौशल के महिमामंडन और इसके लिए उत्पन्न किए गये मनोविज्ञान ने आज मनुष्य को बहुकार्यात्मक नहीं रहने दिया है। आज का मनुष्य वस्तुओं एवं सेवाओं की प्राप्ति के लिए दूसरों पर अधिक निर्भर हो गया है। इस तरह आज के समय में मनुष्य अल्पकार्यात्मक एवं दूसरे पर निर्भर अधिक हो गया है। यह निर्भरता सांस्कृतिक संबंधों से उद्भूत न होकर आर्थिक स्वार्थों से हुआ है। फलतः आज की संस्कृति सांस्कृतिक रूप से रूपान्तरित संस्कृति है और इन संकर संस्कृतियों में जो साम्य है, बहुसंस्कृतवाद विशेषकर उदारवादी–बहुसंस्कृतिवाद उसी साम्य को देख पा रहा है। इसे ही बहुसंस्कृतवाद के नाम पर प्रचारित–प्रसारित किया जा रहा है और वह वास्तव में अपसंस्कृति कहे जाने वाले अनेक तत्त्वों का चमकदार बनाया हुआ प्रस्ताव है।[19]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बहुसंस्कृतिवाद : समुदायवाद से वैश्वीकरण तक

विल किमलिका (2010) ने बहुसंस्कृतिवाद के यात्रा को तीन चरणों में बाँटकर समझने का प्रयास किया है। जिसमें उन्होंने उदारवाद एवं समुदायवाद के बीच वाद–विवाद के रूप में बहुसंस्कृतिवाद के पहले चरण के रूप में पहचान की है। दूसरे चरण को किमलिका ने बहुसंस्कृतिवाद को उदारवादी रूपान्तरण में दर्शाया है और तीसरे चरण को राष्ट्रनिर्माण की प्रतिक्रिया के रूप में दर्शाया है। परन्तु आज के वैश्वीकरण को बहुसंस्कृतिवाद के चौथे चरण के रूप में भी देखा जा सकता है।

विल किमलिका ने बहुसंस्कृतिवाद के सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को उदारवादियों एवं समुदायवादियों के बीच के वाद–विवाद की पृष्ठभूमि से उत्पन्न माना है। सैद्धान्तिक दृष्टि से एक उदारवादी राज्य के द्वारा सांस्कृतिक प्रश्नों पर तटस्थता की राजनीति को अपनाना वास्तव में उदारवादी राज्यो की तार्किक बाध्यता रही है। इस बाध्यता का आधार उदारवाद के द्वारा कल्पित मनुष्य की अ–ऐतिहासिकता एवं अ–सामाजिकता है। उपर के अनेक परिच्छेदों में इस तथ्य का अनेक सन्दर्भों में उल्लेख हुआ है। यद्यपि उदारवादी इस तथ्य को महत्त्व देने के बजाय यह कहना अधिक पसन्द करते हैं कि सबके लिए समान न्याय, सभी को विधि के समक्ष समान मानने का विचार एवं सभी को अवसर की समानता उपलब्ध कराने का तर्क उन्हें व्यक्ति को उसकी पृष्ठभूमि से पृथक् करके (जिसमें संस्कृति भी है) विचार करने का प्रेरक तत्त्व है। सत्यांश होते हुए भी इस तर्क में विसंगति एवं स्थूलता है। इस विसंगति एवं स्थूलता को दो आधारों पर प्रकट किया जा सकता है। इनमें पहला आधार यह है कि जिन सभ्यताओं में आस्था–प्रणाली एवं औचित्य–विधान का कठोर एकीकरण होगा वहाँ विभिन्नता के लिए अवकाश अत्यन्त सीमित होगा। (अम्बिका दत्त शर्मा : 2014)। ऐसी सभ्यताओं में एकरूपता का विचार संस्कृति में मुख्य नियामक तत्त्व के रूप में प्रकट होगी। यूरोपीय संस्कृतियों (संस्कृति) में एक संस्कृति–एक भाषा–एक धर्म–एक राष्ट्र का समीकरण आस्था प्रणाली एवं औचित्य विधान के कठोर एकीकरण के समीकरण का ही प्रतिफलन है। सांस्कृतिक प्रश्नों के प्रति तटस्थता (उपेक्षा) के उदारवादी नजरिये की विसंगति एवं स्थूलता का दूसरा कारण स्वयं यूरोप के द्वारा अपने अतीत एवं वर्तमान के मध्य एक खाई खींच लेना भी रहा है। इस स्पष्टीकरण के बाद अब उक्त दोनों आधारों की अन्तःक्रिया और उसके परिणाम पर विचार किया जा सकता है। यह अन्तःक्रिया और इसका परिणाम यूरोप और आधुनिकता दोनों का एक ऐसा अन्तर्विरोध है जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। इनमें से पहला एकरूपता की ओर और दूसरा–अतीत के विनाश या निंदा की ओर जाता है। दो उदाहरणों के माध्यम से इस तथ्य की पुष्ट की जा सकती है। प्रथम, उदारवाद के प्रत्येक अगले चरण ने पिछले चरण की आलोचना की है और उसे त्याग कर आगे बढ़ने की बात की है। ठीक यही बात आधुनिकता पर भी लागू होती है। जबकि उदारवाद के विभिन्न संस्करणों एवं आधुनिकता के आधुनिकतम रूपों में एकरूपता को प्रश्रय दिए जाने के समीकरणों में वृद्धि अवश्य होती गई है। किन्तु, इस एकरूपता को घोषित तौर पर यूरोप के लिए अपनी सांस्कृतिक पहचान बताना दो कारणों से आत्मघाती प्रतीत होता रहा है। इनमें प्रथम है अपने को लोकतन्त्र का पुरोधा घोषित करने और अपने को लोकतान्त्रिक घोषित करने के उपक्रम में अपने को विभिन्नता का पोषक बताने का तकाजा और दूसरा है अहंकेन्द्रित स्वार्थवाद की चेतना के द्वारा किसी भी सांस्कृतिक प्रतिमान में मानव को आबद्ध न करने का तर्क।

उपर्युक्त यथार्थ की उपेक्षा करते हुए अब बहुसंस्कृतिवादी संस्कृति एवं उदारवादी समाज के ताने–बाने की ऐसी व्याख्या करने लगे हैं जो समाज के यथार्थ के बजाय एक तीसरी धारा में ही जाता हुआ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए किमलिका लिखते हैं कि 'वास्तव में, मैं जिस अर्थ में सामाजिक संस्कृति शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, उसका अधिकांश अकादमिक अनुशासनों में संस्कृति शब्द के उपयोग से टकराव है। अधिकांश अकादमिक अनुशासनों में संस्कृति शब्द को बहुत ही स्थूल मानव शास्त्रीय अर्थ में समझा जाता है। संस्कृति को विशिष्ट लोक प्रथाओं, आदतों और कर्मकाण्डों को वर्णित करने वाला माना जाता है। एक आधुनिक उदारवादी राज्य के नागरिक इस स्थूल मानवशास्त्रीय अर्थ में एक समान संस्कृति में सहभागिता नहीं करते हैं। वास्तव में उदारवादी समाज की परिभाषा का यह एक मुख्य भाग है कि इसमें ऐसे स्थूल मानवशास्त्रीय संस्कृति का अभाव होता है (विल किमलिका 2010:300)।

यह एक बेहद बचकाना तर्क है और एक सादृश्यतामूलक तर्क के आधार पर सिद्ध भी किया जा सकता है। आज के युग को प्रायः आधुनिक एवं वैज्ञानिक युग के रूप में स्वीकार किया जाता है। तब क्या इसका यह अर्थ होता है कि आज के समाज में कोई भी परम्परावादी सोच का नहीं है और सब के सब वैज्ञानिक हैं। निश्चित ही इस अर्थ में आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता का प्रयोग कोई भी नहीं करता है। ठीक इसी तरह हम संस्कृति की पहचान उन तत्त्वों, निष्ठाओं, मूल्यों आदि से नहीं करते हैं जिसमें सभी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लोग एक समान रूप से आकण्ठ डूबे रहते हैं। बल्कि, इस अर्थ में करते हैं कि किसी भी समाज के लोगों में जीवन के उदात्त लक्ष्यों के प्रति एक आम सहमति होती है और यह सहमति उनके व्यवहारिक जीवन के विविध पक्षों में न्यूनाधिक अभिव्यक्त होती है। चलिए एकबार इस मोटी दृष्टि की उपेक्षा करते हुए आगे बढ़ते हैं, तब भी समस्या यह आ जाती है कि फिर किमलिका जैसे उदारवादी–बहुसंस्कृतिवादी पुनर्वितरण एवं मान्यता की राजनीति के द्वारा किन्हें और कहाँ सहभागिता देना चाहते हैं। चलिए एक बार फिर से इस तथ्य की उपेक्षा करके आगे बढ़ते हैं और यह मान लेते हैं कि उदारवादी राज्य में लोग समान संस्कृति में सहभागिता नहीं करते हैं। बल्कि, सहभागिता करते हैं आजीविका, व्यवसाय, भाषा आदि (यद्यपि यह सब भी संस्कृति के ही घटक हैं) के क्षेत्र में। तब अन्य–देशज लोगों को कहाँ सहभागिता और पहचान दी जाएगी? बहुसंस्कृतिवाद कम से कम अन्य संस्कृतियों के अनुकूल अपने को ढालने की बात नहीं करता है और न ही प्रत्यक्ष रूप से दूसरी संस्कृतियों को अपने अनुरूप ढालने की बात करता है। तब उदारवादी राज्यों में विभिन्न संस्कृतियों के संवाद का आधार क्या होगा?

वास्तव में संवाद के इसी आधार को खोजने का प्रयास समुदायवादियों के द्वारा किया गया है। समुदायवादियों ने यह दावा किया की आत्म' समाज या 'सामाजिक शुभ' के पूर्व नहीं हैं। समुदायवादियों ने ज्ञानोदय के मानव को ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करने का ही कार्य नहीं किया बल्कि उसकी विवेकशीलता को अहंवादी विवेकशीलता की जगह सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझने की सिफारिश की है। स्वाभाविक रूप से इस तर्क को पचा पाना आस्था–प्रणाली एवं औचित्य–विधान के कठोर एकीकरण के धरातल पर सम्भव नहीं था। किन्तु, उदारवाद को उदार बनाने में लोकतंत्र की भूमिका के बढ़ते हुए प्रभाव ने ऐसी गुजांइश को उत्पन्न की। इसी तरह धर्मनिरपेक्षता की नीति ने भी पश्चिमी उदारवादी राज्यों में दूसरी आस्था एवं औचित्य प्रणाली से जुड़े समूहों को जगह देने का तर्क उपस्थित किया। यद्यपि यह तर्क संस्कृति में धर्म की भूमिका को नकारने पर ही सम्भव था। फलतः अल्पसंख्यकों के हित एवं सन्दर्भ के समावेशन की राजनीतिक प्रक्रिया उदारवादी राज्यों में आरम्भ हुई। इसमें आधुनिकता की दौड़ में पीछे रह गये और हासिये पर पहुँच गये समूहों के समावेशन की प्रक्रिया भी सम्मिलित थी। निश्चित तौर पर यह प्रक्रिया मजदूरों के समावेशन की प्रक्रिया से भी भिन्न थी। मजदूरों के समावेशन की राजनीति में पहचान एवं मान्यता का प्रश्न पृष्ठभूमि में था और आर्थिक पहचान मुख्य था। इससे इतर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सामाजिक लोकतन्त्र एवं समुदायवाद के तर्कों में हासिये पर पहुँचे समूहों एवं अल्पसंख्यकों के समावेशन में सामाजिक–संस्कृतिक मान्यता का प्रश्न प्रमुख था और आर्थिक पहचान का प्रश्न यहाँ पृष्ठभूमि में था। यह पश्चिम की राजनीति में एक ऐसा पड़ाव रहा है जिसकी सैद्धान्तिक व्याख्या उपयोगितावाद एवं सामाजिक न्याय की तर्क प्रणाली में सम्भव नहीं था। क्योंकि इन सबमें पुनर्वितरण एवं मान्यता का मुख्यधारा प्रारूप ही मापदण्ड रहा है। इन सबमें यदि हासियाकृत समूहों एवं अल्पसंख्यकों की पहचान एवं मान्यता की कोई सम्भावना दिखती भी है तो वह सामाजिक लोकतन्त्र में है। कहने की जरूरत नहीं कि सामाजिक लोकतंत्र के सैद्धान्तिक मान्यताओं का ही विस्तार समुदायवाद है, अतः बहुसंस्कृतिवाद को उदारवाद एवं समुदायवाद के मध्य वाद–विवाद के परिणाम के रूप में देखना सुसंगत ही है।

शुरूआती दौर में बहुसंस्कृतिवाद के अन्तर्गत अल्पसंख्यक अधिकारों की चतुर्दिक चर्चा केन्द्र में रहने का कारण निश्चित रूप से समुदायवाद एवं उदारवाद के मध्य अन्तःक्रिया ही दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि उदारवाद जहाँ स्वायत्त व्यक्ति के स्वरूप, महत्त्व एवं अधिकारों की तरफदारी करता है वहीं समुदायवाद समूहों के स्वरूप एवं महत्त्व की तरफदारी करता है। इस स्थिति में अल्पसंख्यकों के दावे को उदारवाद के द्वारा महत्त्व देकर समुदायवादी आक्रमण से अपना ऐसा हिफाजत सम्भव था जिसमें बहुसंख्यकों के लिए स्वायत्त व्यक्ति की अपनी निष्ठा और अल्पसंख्यकों के लिए सामुदायिक व्यक्ति की निष्ठा को अपनाकर एक समायोजन किया जा सकता था। यह एक ऐसी पहल हो सकती थी जिसके द्वारा उन अल्पसंख्यक समुदायों को जो उदारवाद के प्रति निष्ठावान नहीं थे, उन्हें उदारवाद के प्रति सकारात्मक रूप से संवदेनशील बनाया जा सकता था। साथ ही उन अल्पसंख्यक समुदायों का जिन्होंने उदारवाद के प्रति आग्रही दृष्टिकोण अपना लिया था, उनका आसानी से समावेशन सम्भव था।

इतना होने पर भी उदारवाद एवं समुदायवाद की बीच पूर्ण सामन्जस्य न तो सम्भव था न ही हो पाया है। किन्तु, एक बार उदारवाद के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को स्वीकार कर लेने के बाद यह सम्भव था कि अब उदारवाद के अपने समीकरण में अल्पसंख्यकों के अतिरिक्त आव्रजित समूहों के प्रश्न को भी देखा जाय। यहाँ पुनः स्वायत्त व्यक्ति एवं सामुदायिक व्यक्ति की संकल्पना एवं उससे जुड़े प्रश्न उत्पन्न होने वाले थे। यह बहुसंस्कृतिवाद का दूसरा चरण था जिसमें इस प्रश्न पर विचार किये जाने लगा कि यदि किसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अल्पसंख्यक समुदाय के व्यक्तियों के ऐसे दावे हैं जो उनके समूह की संस्कृति के विरूद्ध जाते हैं, तब उदारवादी राज्य को क्या करना चाहिए? क्योंकि इस स्थिति में समूह राज्य की सत्ता के द्वारा अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के लिए अपने समूह के सदस्यों के दमन की माँग कर सकता है (विल किमलिका 2010:273)। इसके विपरीत उसी समूह के सदस्य राज्यसत्ता से यह अपेक्षा कर सकते हैं कि वह सामुदायिक उत्पीड़न एवं दमन से उनकी रक्षा करेगा। जाहिर तौर पर इस स्थिति में उदारवादी राज्य के द्वारा व्यक्ति के दावे को महत्त्व दिया जायेगा, क्योंकि यह उदारवाद के स्वायत्त व्यक्ति की संकल्पना के अनुरूप है। यहाँ उदारवादी राज्य पर इस आक्षेप का खतरा भी नहीं होगा कि वह किसी प्रकार के मुख्यधारा संस्कृति, विधान या नागरिकता के मूल्य को आरोपित कर रहा है। ऐसे आक्षेप यदि लगते भी हैं तब उदारवादी राज्य के पास इस तर्क का सहारा होगा कि सामुदायिक जीवन में राजकीय हस्तक्षेप स्वैच्छिक नहीं है बल्कि यह स्वयं समुदाय के सदस्यों के अधिकारों की रक्षा के लिए उन्हीं के माँग पर आधारित है। इसके साथ ही उदारवादी राज्य के पास यह तर्क भी होगा कि वह सामुदायिक मूल्यों की अन्य समूहों से हिफाजत करने की गारण्टी भी लेता है।

बहसंस्कृतिवाद के उक्त दूसरे चरण के तर्कों पर थोड़ा ठहर कर विचार करें तो इसकी कलई खुलते देर नहीं लगेगी। यहाँ यह विचार करने की जरूरत कि व्यक्ति जब अपने सामुदायिक सांस्कृतिक प्रतिमानों के विरूद्ध अपने दावे प्रस्तुत करता है तब वह वास्तव में मात्र किसी सामुदायिक मूल्य या परम्परा को खारिज करना चाहता है या वह इसी के साथ कुछ नये माँग भी रखता है। व्यवहार में यह दोनों क्रियायें साथ–साथ ही घटित होती हैं जिनमें व्यक्ति के माँग प्रायः उदारवादी स्वायत्त व्यक्ति के प्रस्तावों के अनुरूपण में अग्रसर होते हुए दिखते हैं। मान लीजिए एक व्यक्ति समुदाय द्वारा निर्धारित वैवाहिक प्रतिमान के विरूद्ध (अन्तरजातीय या समलिंगीय) जीवन साथी के चयन हेतु स्वतन्त्रता की माँग करता है। तब इस माँग का पहला पक्ष (सामुदायिक निष्ठा का विरोध) सामुदायिक संस्कृति का प्रतिरोधी स्वर है और दूसरा पक्ष (माँग) उदारवाद के स्वायत्त व्यक्ति की तरफदारी है। यही बात सामुदायिक सांस्कृतिक शिक्षा के विरोध, परम्परागत धार्मिक अनुष्ठानों में भागीदारी के विरूद्ध दावेदारी, सामुदायिक पहचान के प्रतीकों को न धारण करने के तर्क आदि में भी परिलक्षित होता है। ऐसी समुदाय विरोधी दावेदारियों के बीच बहुसंस्कृतिवाद के द्वारा व्यक्ति की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हिफाजत के तर्क के आधार पर राज्य द्वारा जो हस्तक्षेप किया जाता है वह किस दिशा में जाता है? स्वाभाविक रूप से वह सामुदायिक संस्कृति में उदारवादी हस्तक्षेप है जो सामुदायिक संस्कृति को उदारवादी संस्कृति से अनुरूपण प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है।

निष्पक्ष रूप से देखने पर बहुसंस्कृतिवाद के जिस द्वितीय चरण की बात विल किमलिका कर रहे हैं वह वास्तव में समतावादी तर्क को ही सामाजिक–सांस्कृतिक सन्दर्भ में आगे बढ़ाता है। इस सन्दर्भ में आगे चर्चा करने से पहले जॉन रॉल्स के कुछ पंक्तियों का उद्धरण दे देने से यह सम्पूर्ण प्रकरण सजीव रूप से प्रकट हो सकता है। रॉल्स लिखते हैं कि स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में नागरिक एक दूसरे की इस नैतिक शक्ति को मान्यता देते हैं कि वे अपनी शुभ की संकल्पना रख सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे शुभ की किसी विशिष्टि संकल्पना की खोज और अंतिम लक्ष्यों, जिसे वे किसी भी दिए हुए समय में अपनाते हैं, से स्वयं को बंधा हुआ नहीं मानते हैं। इसके स्थान पर वे नागरिक के रूप में तार्किक और विवेक सम्मत आधारों पर इस संकल्पना (शुभ की स्वयं अपनी प्रदत्त) का परीक्षण करने एवं उन्हें बदलने में समर्थ मानते हैं। इसलिए यह माना जाता है कि नागरिकों को शुभ की संकल्पनाओं से अलग रहने और उनके अनेकों आखिरी परिणामों का सर्वेक्षण एवं मूल्यांकन की इजाजत दी जा सकती है (जॉन रॉल्स 1980 : 544)।

रॉल्स के उक्त उद्धरण में सांस्कृतिक निष्ठाओं को प्रश्नांकित करने में उदारवाद के स्वायत्त व्यक्ति की प्रतिष्ठा हुई है। मैं इस तर्क को ए थ्योरी ऑफ जस्टिस (1971) के तर्कों के साथ पढ़े जाने का प्रस्ताव करता हूँ। ऐसा करने से यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि शुभ की स्वयं अपनी एवं प्रदत्त संकल्पनाओं को बदलने एवं उनकी समीक्षा करने के व्यक्ति के दावों का तार्किक आधार क्या है? वह तार्किक आधार है कुछ आर्थिक नियमों की जानकारी एवं आत्मसम्मान की इच्छा (अज्ञान के पर्दे में स्थित मनुष्य की तार्किकता)। आर्थिक नियमों की जानकारी (थोड़ा–बहुत) के द्वारा यदि आत्म सम्मान की दावेदारी की जायेगी तब आत्मसम्मान को खोजा कहाँ जायेगा और उसके प्रतीक क्या होगें? कम से कम यह धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिक्षेत्र का विषय तो होगा नहीं। फिर यह क्यों न माना जाय कि रॉल्स के तर्कों में आत्मसम्मान भौतिक उपलब्धियों का विषय होगा। आर्थिक तर्कों के साथ आत्म सम्मान को जोड़कर समझने से इसकी कोई दूसरी परिणति हो भी नहीं सकती है। यहाँ सांस्कृतिक प्रश्नों की पूर्व–पीठिका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर विमर्श की गुजांइश ही समाप्त हो जाती है। इस हालत में व्यक्ति के स्वयं के एवं प्रदत्त सांस्कृतिक निष्ठाओं के मूल्यांकन का आधार भौतिक पद, प्रतिष्ठा एवं समृद्धि से बाहर कैसे खोजा जाय ? वास्तव में इसी प्रश्न से जुझते हुए पॉलिटिकल लिबरलिज्म (1993) की रचना जॉन रॉल्स ने की है और यही प्रकारान्तर से समतावादी बहुसंस्कृतिवाद के विमर्श का भी आधार है।

वास्तविक धरातल पर उदारवादी बहुसंस्कृतिवाद एवं समतावादी बहुसंस्कृतिवाद के मध्य जो मतभेद दिखाई देता है उसे यदि दो अलग–अलग आधारों पर तौला जाय तो दोनों के मध्य अनुस्युत अन्तःसंबंध को प्रकट करना आसान होगा। उनमें से पहला आधार यह है कि समतावादी बहुसंस्कृतिवादियों की क्या प्रतिक्रिया होगी जब उदारवादी बहुसंस्कृतिवादी राज्य समुदाय के विरूद्ध 'स्वायत्त व्यक्ति' के दावों को वैध मानेगा? दूसरा आधार यह है कि जब उदारवादी बहुसंस्कृतिवादी राज्य सामुदायिक संस्कृति को मान्यता प्रदान करेगा तब समतावादी बहुसंस्कृतिवादियों की क्या प्रतिक्रिया होगी? निश्चित ही यहाँ उत्तर सन्दर्भ सापेक्षिक होगा। यदि किसी निजी विद्यालय के द्वारा अपने प्रति छात्रों पर शिक्षा हेतु उस अनुपात से अधिक व्यय किया जाता है जितना सामान्य बच्चों की शिक्षा के लिए राज्य व्यवस्था के द्वारा किया जा रहा है तब तो यह पहले से ही लाभान्वित अभिभावकों को अपने बच्चों के लिए बेहतर शिक्षा का प्रबन्ध करने के लाभ के गुजांइश को बढ़ावा देगा (ब्रियान बैरी 2001 : 206) और तब यह समतावादियों की आलोचना का विषय बनेगा। किन्तु, यदि किसी सिख को पगड़ी पहनने के कारण किसी स्कूल की शिक्षा से वंचित किया जाय तब तो यह अवसर की समानता का उल्लघंन होगा। इससे बचने के लिए जरूरी है कि अवसर की समानता को संस्कृति–संवेदी तरीके से व्याख्यायित किया जाय (भीखू पारिख 2000 : 241)। उक्त दोनों उद्धरणों में अवसर की समानता का समान लाभ दिए जाने का ही तो तर्क उपस्थित हुआ है, जबकि पारिख एवं बैरी के बीच उदारवादी बहुसंस्कृतिवाद एवं समतावादी उदारवाद को लेकर तीखा विवाद है। समतावादी बहुसंस्कृतिवादी और उदारवादी बहुसंसकृतिवादी दोनों ही अल्पसंख्यकों के लिए एवं वंचित समूहों के लिए विशेष अधिकारों के समर्थन में खड़े होते हैं पर यह समर्थन उदारवादी बहुसंस्कृतिवादियों के द्वारा समूहविभेदीकृत अधिकार (ग्रुप डिफरेन्सिएटेड राइट) की तर्क भूमि पर स्थित होता है। वहीं, समतावादी बहुसंस्कृतिवादियों के समर्थन का आंधार सबके लिए समान अवसर की सर्व व्यापक सम्भावना होती है जिसमें विभेद सिद्धान्त का पालन वांक्षित समानता के लक्ष्य की प्राप्ति तक के लिए ही है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यथार्थतः यहाँ उदारवादी बहुसंस्कृतिवादियों एवं समतावादी बहुसंस्कृतिवादियों के बीच का विवाद अवसर की समानता का समान लाभ दिए जाने से नहीं है। बल्कि विवाद का मूल कारण यह है कि सांस्कृतिक समुदायों को और उनमें व्यक्ति को किस तरह से देखा जाय। इस प्रश्न के बेहतर उत्तर की तलाश का दावा समतावादियों की ओर से अब ए थ्योरी ऑफ जस्टिस के बजाय पॉलिटिकल लिबरलिज्म में करने की प्रवृत्ति दिखती है। अपनी इस दूसरी पुस्तक में जॉन रॉल्स स्वयं यह कहते हैं कि ए थ्योरी ऑफ जस्टिस के अयथार्थ दावों की मीमांसा आवश्यक है (जॉन रॉल्स 1993 : XVI-XVII)। रॉल्स के तर्कों में आने वाले बदलाव की अनुगूंज हमें जिस रूप में प्राप्त होती है वहां वे अब मानव को नागरिक के रूप में एवं एक राजनीतिक व्यक्ति के रूप में देख रहे हैं। जहाँ वे मानवीय क्षमता की जगह नागरिकों की शक्ति पर विचार कर रहे हैं और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को राजनीतिक परिक्षेत्र से आबद्ध सीमाओं के भीतर मान रहे हैं (भीखू पारिख 2000 : 82–83)। फिर भी रॉल्स की ओर से और अन्य समतावादियों की ओर से उन्हीं के द्वारा खड़ा किये गये सबसे मौलिक प्रश्न का उत्तर बाकी है। वह प्रश्न यह है कि क्या न्याय की समस्या के समाधान के लिए व्यक्ति को परिप्रेक्ष्य विहीन बनाया जाना आवश्यक है? ए थ्योरी ऑफ जस्टिस के विपरीत पॉलिटिकल लिबरलिज्म का उत्तर यह है कि परिप्रेक्ष्य विहीनता के तर्क से न्याय के सूत्रों की खोज एक असम्भाव्य यात्रा है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की ऐतिहासिकता एवं सामाजिकता की खोज आवश्यक प्रश्न बन जाते हैं। इस प्रश्न के समाधान का जो रास्ता रॉल्स ने निकाला है वह एक तो अत्यन्त सरलीकृत रास्ता है और दूसरे उदारवाद की ओर ऐसा मुड़ा हुआ रास्ता है जो किस न किसी चौराहे पर उदारवादी रास्ते में ही विलीन होने के लिए कदाचित् संकल्पित भी है। मेरे इस निष्कर्षात्मक टिप्पणी का आधार रॉल्स की यह मान्यता (पालिटिकल लिबरलिज्म में) है कि लोकतान्त्रिक समाजों की राजनीतिक संस्कृति में प्रायः समरूपता पायी जाती है और उसमें असहमति के तत्त्व कम ही होते हैं (भीखू पारिख 2000 : 82)। रॉल्स की इस मान्यता ने उनके लिए एक ऐसी सीमा रेखा खींच दी है जहाँ उनके तमाम प्रस्थापनाओं से असहमति के व्यापक आधार तैयार हो जाते हैं। जैसे– सांस्कृतिक विवादों एवं समावेशन के प्रश्न सामाजिक, धार्मिक एवं अस्तित्वात्मक प्रकृति के होते हैं और इन सबका निदान राजनीतिक संस्कृति के भीतर ही होना सम्भव नहीं है। बल्कि सच्चाई तो यह है कि धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक परिवेश में ही राजनीतिक संस्कृति का निर्माण होता है। कम से कम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जिन समाजों को रॉल्स लोकतान्त्रिक समाज कह रहे है उनका राजनीतिक विकास इसी क्रम में हुआ है। जिन नव स्वतन्त्र समाजों में राजनीतिक सत्ता के द्वारा सामाजिक आर्थिक परिवर्तन एवं नव निर्माण का प्रयास किया गया उनकी स्थिति कुछ अलग जरूर है। प्रकटतः लोकतान्त्रिक समाजों की लोकतान्त्रिक संस्कृति से जॉन रॉल्स का आशय पूँजीवादी–उदारवादी लोकतन्त्रों से ही है। किन्तु, जिस अवस्था में पहुँचकर इन लोकतन्त्रों में राजनीतिक संस्कृति की न्यूनाधिक रूप से एकरूपता रॉल्स देख रहे हैं वह अचानक विकसित नहीं हुई है न ही सहमति के तत्त्व रातों–रात विकसित हुए हैं। बल्कि इस अवस्था तक पहुँचने में उदारवादी–पूँजीवादी लोकतन्त्रों ने अपने ही समाज के विभिन्न भाषायी, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं जातीय समूहों की बलि चढ़ाई है। इस तथ्य के अतिरिक्त यहाँ एक दूसरे तथ्य पर भी विचार करना आवश्यक है। संसाधनों के अभाव में या उनके असमानतापूर्ण वितरण की स्थिति में सामाजिक मतभेदों के तीव्र होने की सम्भावना होती है। पूँजीवादी–उदारवादी लोकतन्त्रों में सहमति के जिन तत्त्वों को रॉल्स राजनीतिक संस्कृति के वैशिष्ट्य के रूप में पहचान कर रहे हैं, उनका एक बड़ा भाग औपनिवेशिक शोषण से प्राप्त हुआ है और आज संरक्षणवादी नीतियों के सहारे स्थिर है।

अतः एक तो पूँजीवादी–उदारवादी लोकतन्त्रों की राजनीतिक संस्कृति लूट के माल के वितरण की नीति पर आधारित सहमति को प्रदर्शित करते हैं और दूसरे इस संस्कृति की न्यूनाधिक एकरूपता विभिन्नता के अभाव (विनाश करके) में पनपी एकरूपता है। जाहिर है कि ऐसे अंधेरे इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने से पश्चिम का कोई भला होने वाला नहीं है। परन्तु, तर्क की दृष्टि से जब रॉल्स आज के परिवेश में पूँजीवादी–उदारवादी लोकतन्त्रों की राजनीतिक संस्कृति, उसकी कमोबेश एकरूपता और सहमति के तत्त्वों की उपस्थिति के मध्य नागरिकों को देखते हैं तब यह भी वास्तव में नागरिकों को परिप्रेक्ष्य विहीन बना देना ही है। यह पुनः ए थ्योरी ऑफ जस्टिस की अज्ञानता के पर्दे के पीछे ही नागरिकों को पहुँचा देने का प्रयास है। इस प्रस्थापना की अभिरक्षा हेतु कतिपय आग्रहों पर विचार करना उपयुक्त होगा। प्रथम, मनुष्य को परिप्रेक्ष्य विहीन मानना या नागरिकों को एक ही राजनीतिक संस्कृति में सहमति पूर्ण तरीके से भागीदार मानना परिणाम की दृष्ट से एक ही प्रकार के प्रस्ताव हैं। क्योंकि, दोनों ही स्थितियों में वांक्षित लक्ष्यों में एकरूपता की प्रवृत्ति होगी और सामाजिक पुनर्निर्माण या पहचान की राजनीति हेतु एक ही प्रकार के सूत्रों को सर्वस्वीकार्य मापदण्ड

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के तौर पर अपनाने का दावा किया जा सकता है। द्वितीय, समूह अधिकार और समूह विभेदीकृत अधिकार के दावों को इस नए तर्क में भी उसी प्रकार नकारने की सम्भावना है जैसा कि ए थ्योरी ऑफ जस्टिस में था।

इस प्रकार यह कहना उचित होगा कि अब भी बहुसंस्कृतिवाद के विमर्श में समतावाद का मौलिक नजरिया वही है जो पहले था और वह था आर्थिक नियमों की मूलभूत जानकारी और आत्मसम्मान की रक्षा के तर्क पर सबके लिए सर्वव्यापक स्वतन्त्रता के मार्ग को तलाशना। पहले मनुष्यों और अब नागरिकों के मध्य तीव्र सांस्कृतिक विभाजन के मुद्दों से पहले भी कन्नी काटने का प्रयास समतावादियों ने किया था और आज भी कर रहे हैं। इसके विपरीत उदारवादी बहुसंस्कृतिवादियों ने समूह अधिकारों की बात सकारात्मक उदारवाद के भीतर पलते देखा और इसी तर्क से समूह विभेदीकृत अधिकारों के समर्थन का तर्क खोज निकाला। वास्तव में समूह अधिकार कोई ऐसे नए अधिकार नहीं थे जिनका संज्ञान उदारवाद की परिधि के भीतर नहीं लिया जा सकता था। बल्कि यह वे अधिकार थे जिनमें मूल्य विमर्श की आवश्यकता नहीं थी और इन्हें उदारवादी लोकतन्त्र के बढ़ते हुए दबाव की स्वीकारोक्ति के रूप में देखा जा सकता था। जिसका तकाजा यह था कि कुछ अधिकार ऐसे भी होते हैं जिनका दावा और उपभोग व्यक्ति किसी खास समुदाय या समूह का सदस्य होने के नाते करता है। जैसे– महिलाओं के अधिकार, बच्चों के अधिकार, मूल निवासियों के अधिकार, अशक्त समूहों के अधिकार इत्यादि। इन दावों में उदारवादी प्रतिमान के अधिकारों के आधारों की मीमांसा आवश्यक नहीं थी। और न ही इन दावों को प्रस्तुत करने वाले समूहों ने किसी गैर उदारवादी नैतिकता के पक्षपोषण का ही प्रतिरोधी स्वर सामने रखा था। इस हालत में समूह अधिकारों को मान्यता देकर उदारवाद ने अपने लोकतान्त्रिक आधार को ही मजबूत किया। अपने पूर्ववर्तियों (सामाजिक लोकतन्त्रवादियों) के विपरीत उदारवादी बहुसंस्कृतिवादियों के समक्ष सांस्कृतिक समुदायों का एक बृहद् परिप्रेक्ष्य था और इनमें व्यक्ति की स्थिति में अनेक नैतिक प्रश्न थे। सांस्कृतिक समुदायों के इस वृहद् परिप्रेक्ष्य को आव्रजित समूहों की बढ़ती हुई शक्ति ने भी प्रभावित किया था और यह प्रभाव निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। यहाँ अब पश्चिमी उदारवादी लोकतन्त्र में समूह अधिकार का विस्तार करके कथित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते थे। क्योंकि, अब जिनका समावेशन किया जाना था वे उदारवादी आस्था एवं औचित्य प्रणाली से भिन्न आस्था एवं औचित्य प्रणाली का प्रतिनिधित्व करने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri. Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वाले समूह भी हो सकते थे और वास्तविकता में ऐसे थे भी। अब उदारवादी राज्यों के विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के भीतर एथक् स्वर रखने वाले उपसांस्कृतिक समूहों की तलाश थी जिनके हिफाजत के नाम पर वे सांस्कृतिक समूहों की आस्था प्रणाली में हस्तक्षेप कर सकते थे। इस रणनीति को उदारवादी राज्यों ने समूह विभेदीकृत अधिकारों की तरफदारी के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया। इसके लिए पश्चिमी लोकतन्त्रों ने अपनी आस्था एवं औचित्य प्रणाली में कोई बदलाव नहीं किया अपितु यह प्रस्ताव किया कि आप अपनी सामूहिक मान्यताओं को स्वतन्त्रता पूर्वक बरकरार रख सकते हैं; बशर्ते आप हमारी भाषा और राजनीतिक आस्था को स्वीकार कर लें। यह विविधता के समायोजन का सबसे तटस्थ प्रयास है। वह भी उस अवस्था में आकर जब 'पर' से कोई सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक खतरा नहीं है क्योंकि वे आव्रजित हैं, अल्पसंख्यक हैं, आजीविका की तलाश में आये हैं और अपेक्षित होने पर समायोजन की नीति में बदलाव का सर्वाधिकार उसी व्यवस्था के पास सुरक्षित है जिसने समायोजन का प्रस्ताव रखा है।

समूह विभेदीकृत अधिकारों की मान्यता के उदारवादी बहुसंस्कृतिवादी प्रतिमान के उक्त तटस्थ स्वरूप के अतिरिक्त इसके दो और भी प्रयास दिखाई पड़ते हैं जिनमें एक में यह आक्रामक और दूसरे में निर्विचार है। जिन समूहों की स्वकीय आस्था–प्रणाली के साथ समायोजन की बात बहुसंस्कृतिवादी करते हैं उनमें भी यदि समुदाय के भीतर का ही कोई व्यक्ति या समूह किसी भिन्न नैतिकता का सहारा लेता है तब उदारवादी राज्य समुदाय की आस्था प्रणाली से व्यक्ति को आजाद कराने हेतु हस्तक्षेप करेगा। यहाँ उदारवादी राज्य का रवैया आक्रामक हो जाता है और वह समुदाय को विभाजित करने की दिशा में आगे बढ़ता है। इस प्रकार के उदाहरण तब आयेंगे जब कोई हिन्दू गोमांस भक्षण करना चाहे, मुस्लिम महिला बुर्का न पहनना चाहे एवं सिख पगड़ी न पहनना चाहे इत्यादि। बहुसंस्कृतिवादियों के समक्ष समूह विभेदीकृत अधिकारों के समायोजन का मसूला एक भिन्न नैतकता की पृष्ठभूमि से भी उत्पन्न होता है। यह अभी गे एवं लेसबियन संबंधों के मान्यता का मसला है। सम्भव है इसमें आगे चलकर और भी मामले जुड़ें। किन्तु, इस मुख्यधारा से भिन्न यौन नैतिकता की उदारवादी बहुसंस्कृतिवादियों द्वारा नैतिक स्वीकृति के बाद भी तार्किक एवं विधिक बाधायें शेष हैं। उम्मीद किया जा रहा है कि गे एवं लेसबियन संबंधों से जुड़े तार्किक एवं विधिक बाधायें भी दूर हो जायेंगे। यह ऐसा पक्ष है जिसकी नैतिकता का सार आज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के वाद–विवाद में भी नैतिक तर्कों से परे भिन्न नैतिकता का दावा करने वाले समूहों की दबावकारी शक्ति में निहित है। यहाँ संस्कृति का मामदण्ड समुदाचार है। इस तर्क से किसी भी समूह के दावे स्वीकार्य हो सकते हैं, बशर्ते उस समूह की हैसियत लोकतान्त्रिक सत्ता के निर्माण में दबाव डालने की स्थिति में हो।

अब बहुसंस्कृतिवाद के उस तीसरे चरण पर कुछ विचार कर लेना उपयुक्त होगा जिसे किमलिका ने राष्ट्रनिर्माण की प्रतिक्रिया के रूप में देखा है। वे लिखते हैं कि बहुत सी राष्ट्रीयताओं वाले अधिकांश पश्चिमी राज्यों ने कभी न कभी इस बात के लिए बहुत गंभीरता से कोशिश की है कि सभी अल्पसंख्यक बहुमत के साथ एकीकरण कर लें। इन राज्यों ने बहुत ही हिचकिचाहट के साथ इस आदर्श को छोड़ा है (विल किमलिका 2010 : 300)। यह विचार का एक ऐसा क्षेत्र है जो व्यापक सर्वेक्षण की माँग करता है। क्योंकि, राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया स्वयं यूरोप में और अमेरीका में एक समान नहीं रही है। ऐसा मान लेना भी अनुचित होगा कि सभी राज्यों में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया सदैव एक जैसी ही हो। वैश्विक स्तर पर तो इस सन्दर्भ में अनेकों वैविध्य विद्यमान हैं। तथापि, जिन राज्यों में राजनीतिक प्रक्रिया का प्रभाव राष्ट्र–निर्माण में अधिक होता है वहाँ प्रतिक्रियात्मक स्वर उभरने की सम्भावना भी अधिक होती है। इसी तरह जिन राज्यों में मतभेदों के निवारण में सामाजिक गतिकी का प्रभाव धीमा होता है वहाँ मतभेदों के तीव्र होने की सम्भावना अधिक होती है। किन्तु, यह विश्लेषण अत्यन्त स्थूल प्रकृति की है। वास्तव में राष्ट्र–निर्माण की प्रतिक्रिया के रूप में बहुसंस्कृतिवाद को देखने से बलात एकीकरण की प्रक्रिया से छूट गये या बहिष्कृत हो गये समूहों के समावेशन की गुजांइश बनती है। किन्तु, यह गुजांइश क्या उन्हीं समूहों के लिए नहीं है जिन्होंने अपनी पृथक् पहचान एवं उत्तरजीविता की जीजीविषा को बनाये रखा है। जहाँ भी ऐसे समूह हैं वे वास्तव में उदारवादी राजनीतिक राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया के औचित्य पर भी प्रश्न चिन्ह खड़ा करते हैं। गैर उदारवादी राज्यों द्वारा भी राष्ट्र.निर्माण की प्रक्रिया से छूट गये समूहों के समावेशन की बात की जाती रही है। सच्चाई यह है कि आज विभिन्न समूह उस अवस्था में पहुँच चुके हैं जहाँ उनके पास बचाने के लिए संस्कृति के नाम पर बहुत कुछ है ही नहीं। ऐसे प्रश्नों को आज के समय में मूलगामी कहा जाना स्वाभाविक है। यदि ऐसे प्रश्नों से बचने का तर्क आज का युग–धर्म बनता जा रहा है तब क्या यह स्वयं अपने आप में उदारवादी प्रणाली का ही विस्तार नहीं है ?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

उपर्युक्त प्रश्न को वास्तविकता के धरातल पर न तो नकारा जा सकता है और न ही आज के समय में उदारवादी सांस्कृतिक प्रतिमान के वैश्विक आच्छादन को अस्वीकार किया जा सकता है। इसी कारण बहुसंस्कृतिवाद को वैश्वीकरण का राजनीतिक–सांस्कृतिक सहयोगी मानने का विचार अनौचित्यपूर्ण नहीं है। वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में बहुसंस्कृतिवाद पर अभी बहुत कुछ लिखा और विचार किया जाना शेष है। इस क्षेत्र में थोड़ा गहरे स्तर पर विचार करने से बहुसंस्कृतिवाद की स्थापनाओं को और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। वैश्वीकरण पूँजी, सेवा, तकनीक एवं उत्पाद के ऐसे अबाध संचरण की प्रणाली है जिसमें राष्ट्रों की सम्प्रभुता आधारित भौगोलिक बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं। पराराष्ट्रीय पूँजी की भूमिका निर्णय–निर्माण के केन्द्र के रूप में सम्प्रभुता आधारित राष्ट्र–राज्य की स्थिति को कमजोर करती जा रही है। इस अवस्था में सांस्कृतिक अक्षुण्णता को बनाये रखने में न तो राष्ट्र–राज्य समर्थ रह गये हैं और न ही सामुदायिक शक्तियाँ इस क्षेत्र में प्रभावी रह पायी हैं। वास्तव में यह युग संस्कृतियों के सांस्कृति संकट और धर्मों के धर्म संकट (अम्बिका दत्त शर्मा : 2014) का युग है। आज का युग क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों का युग है और ऐसे सभी क्षेत्रीय आर्थिक संगठन समरूप श्रमविधान, समरूप पारगमन नीति, समरूप आर्थिक नीति, समरूप व्यापारिक नीति, समरूप सीमा शुल्क नीति, समरूप विपणन नीति, समरूप संचार नीति आदि को बढ़ावा दे रहे हैं। इस प्रकार के समरूपण के बीच सांस्कृतक मेल–जोल का बढ़ना भी स्वाभाविक ही है और यह भी स्वाभाविक ही है। इन समरूपणों का दबाव जिस शक्ति के प्रभाव से उत्पन्न हुआ है उस शक्ति के साथ अनुरूपण विभिन्न सांस्कृतिक समुदायों के लिए वांछित बाध्यता है। आज यदि कोई हिन्दू विधि पूर्वक त्रिकाल संध्या करना चाहे, कोई मुस्लिम विधि पूर्वक पाँच वक्त का नमाजी होना चाहे, कोई यहूदी विधि पूर्वक अग्निहोत्र होना चाहे और कोई इसाई निष्ठापूर्वक मसीही निर्देशों के अनुसार जीवन यापन करना चाहे तब क्या वह वैश्वीकृत जीवन प्रणाली में अपने को स्थिर रख पायेगा? कदाचित् इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर सम्भव नहीं है। इसी कारण आज के वैश्वीकृत युग में जीवन प्रणाली की तीव्र गति से अनुकूलन के क्रम में विभिन्न संस्कृतियाँ स्वयं ही सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रश्नों को पृष्ठभूमि में ढ़केल रही हैं। आज मौलिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रश्नों पर बातचीत को कट्टरता की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है और पश्चिम के इतिहास बोध की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

स्वीकृति के साथ उपस्थापित और किए जाने वाले विचार (राजीव मल्होत्रा 2013 : 19–23) को उदारवादी संस्करण माना जाता है। यहाँ यह विचार करने की गुजांइश नहीं होती है कि स्वयं उदारवादी प्रतिमानों में ही कितनी कट्टरता छिपी हुई है।

जिन दशकों में बहुसंस्कृतिवाद का स्वर तीव्र हुआ है उन्हीं दशकों में दुनिया भर में जितने लोग बिना किसी प्रत्यक्ष युद्ध के मारे गये हैं, उनकी संख्या दोनों महायुद्धों में मारे गये लोगों से अधिक है। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि इस घटना से बहुसंस्कृतिवाद का क्या संबंध है? यद्यपि यह प्रश्न अपनी बुद्धि के कपाट बन्द करने जैसा है तथापि इसका उत्तर यह प्रश्न है कि क्या आज के वैश्वीकृत युग में वैश्विक अशान्ति के मध्य बहुसांस्कृतिक हुआ जा सकता है ? यदि इसका उत्तर हाँ में है तब यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि फिर ऐसा क्यों है कि जिन सांस्कृतिक समूहों के प्रति देशज राजनीति में सकारात्मक समायोजन हेतु बहुसंस्कृतिवाद को अपनाया जाता है उन्हीं सांस्कृतिक समूहों के प्रति दुनिया के अन्य क्षेत्रों में भेद–भाव परक संरक्षाणात्मक नीतियों को अपनाने का क्या औचित्य है? इसी तरह यह प्रश्न भी उपस्थित किया जा सकता है कि जिन दशकों में बहुसंस्कृतिवाद केन्द्रीय अकादमिक विषय बनता जा रहा था उन्हीं दशकों में सभ्यताओं के संघर्ष (एस. पी. हन्टिंगटन : 1997) की चर्चा इतने जोर–शोर से क्यों हो रही थी। सच पूछा जाय तो बहुसंस्कृतिवाद में जिस पहचान, सम्मान, समानता आदि की चर्चा की जा रही है उसके सैद्धान्तिक आधार ही अत्यन्त कमजोर हैं। किन्तु इस चर्चा को आगे बढ़ाने के पूर्व बहुसंस्कृतिवाद के प्रतिमानों (माडल्स) की परिचर्चा कर लेना समीचीन होगा।

बहुसंस्कृतिवाद के विभिन्न प्रतिमान

राजनीतिक एकीककरण को एकता एवं विविधता की रक्षा के लक्ष्य के साथ अपनाये जाने पर हमेशा इसकी सफलता और परिणाम अनेक तत्त्वों पर निर्भर करते हैं। इन तत्त्वों में जिन विविधताओं (संस्कृतियों) की रक्षा का उद्देश्य सामने रखा गया है उनकी जनांकिकीय (डेमोग्राफिक) स्थिति, उनकी भाषायी, धार्मिक, आर्थिक स्थिति एवं उनके मध्य अभिजन संघर्ष की स्थिति तथा अन्य समूहों के साथ संबंधों का स्वरूप महत्त्वपूर्ण होता है।[20] स्वयं राजनीतिक एकीकरण की नियति एवं उद्देश्य भी इस प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। विभिन्न समूहों के बीच यदि अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया हो तब राजनीतिक एकीकरण में अन्य तत्त्व (पहचान, स्वतन्त्रता, समानता, सांस्कृतिक अक्षुण्णता आदि) पृष्ठभूमि में चले

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाते हैं। औपनिवेशिक स्वतन्त्रता के बाद अमेरीकी राज्यों का संयुक्त राज्य बनना इसी श्रेणी में आता है। इसी तर्क को कुछ रूपान्तरित स्वरूप में हिटलरकालीन जर्मनी के एकीकरण में भी देखा जा सकता है; यद्यपि उसमें प्रतिक्रियात्मकता की भी अनदेखी नहीं की जा सकती है। इसी तरह जब विचारधारा एकीकरण का माध्यम बनती है तब भी विभिन्न अस्मितायें (समाजवादी सोवियत संघ के एकीकरण का उदाहरण) पृष्ठभूमि में चली जाती हैं। राजनीतिक एकीकरण की समसामयिकी भी इस प्रक्रिया को एवं इसके उद्देश्य को प्रभावित करती हैं। इस दृष्टि से गैरीबाल्डी एवं मेजिनी के समय में होने वाले इटली के एकीकरण एवं मुसोलिनी के समय में होने वाले इटली के एकीकरण में अन्तर किया जा सकता है। इसी तरह समााजिक एवं सांस्कृतिक रूप से सामासिक (कम्पोजिट) समाजों (भारत का उदाहरण) के राजनीतिक एकीकरण एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूप से विच्छिन्न समाजों के राजनीतिक एकीकरण में भी अन्तर पाया जाता है। राष्ट्रीयता की धारणा पर जातीयता की धारणा को अविभावी मानने वाले समूहों (मुस्लिम समुदाय) के राजनीतिक एकीकरण को भी एक पृथक् श्रेणी में रखा जा सकता है। इसी तरह व्यापारिक एवं आर्थिक हितों की रक्षा, प्रसार एवं अभिवृद्धि के लिए (यूरोपियन यूनियन का उदाहरण) राजनीतिक एकीकरण को भी एक पृथक् श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है। राजनीतिक एकीकरण के इन विविध प्रतिमानों को एक दूसरे से एक हद तक समरूपी होने पर भी इन्हें कतिपय सामान्य श्रेणियों में विभाजित करना उचित नहीं है।

इन वास्तविकताओं के होते हुए भी राजनीतिक एकीकरण के 'प्रेशर कुकर' प्रतिमान एवं 'सैलिड बाउल' प्रतिमान की चर्चा की जाती है और इनमें प्रथम की अपेक्षा द्वितीय को अधिक लोकतान्त्रिक बताया जाता है। भीखू पारिख ने राजनीतिक एकीकरण के तीन प्रतिमानों का उल्लेख (भीखू पारिख 2000:199–209) किया है। इन प्रतिमानों को उन्होंने प्रक्रियात्मक (प्रोसिजरलिस्ट), नागरिक समावेशन (सिविक एसिमिलेशनिस्ट) एवं मिल्लत (मिलेट) प्रतिमान का नाम दिया है। प्रक्रियात्मक एकीकरण की चर्चा करते हुए पारिख कहते हैं कि जिन बहुसांस्कृतिक समाजों में नैतिक एवं सांस्कृतिक विभिन्नतायें (मतभेद) बहुत गहरे होते हैं और जिन्हें विवेक सम्मत तरीके से नहीं सुलझाया जा सकता है वहां शान्ति एवं स्थायित्व बनाये रखना ही हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। इस अवस्था में औपचारिक रूप से राज्य एक तटस्थ राज्य होता है जो न्यूनतम सामान्य विधिक व्यवस्था को स्थापित करता है और नागरिक अपने स्वतन्त्र विवेक से चुने गये जीवन के विकल्प

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के अनुसार जीने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यदि ऐसे समाज में राज्य शुभ जीवन की अपनी किसी वरीयता को लागू करता है तब एक तो वह समुदायों की नैतिक स्वायत्तता का अतिक्रमण करेगा और दूसरे राज्य की वरीयताओं से भिन्न दृष्टि रखने वाले सांस्कृतिक समूहों के साथ भेद–भाव करेगा। इसी कारण गहरे नैतिक एवं सांस्कृतिक मतभेद रखने वाले बहुसांस्कृतिक समाजों में प्रक्रियात्मक समावेशन की नीति के द्वारा ही अधिकतम राजनीतिक एकता की प्राप्ति अधिकतम विविधता की स्वीकृति के साथ सम्भव है। प्रक्रियात्मक एकीकरण एक सीमित शासन वाले राज्य (मिनिमल स्टेट) द्वारा सम्भव है। ऐसा राज्य अपने नागरिकों से जो गहरे नैतिक एवं सांस्कृतिक मतभेदों से आबद्ध होते हैं कोई विवादास्पद माँग न करके एकता को बढ़ावा देता है और यह राज्य न्यूनतम स्वैच्छिक चयन पर आधारित (च्वाइस बेस्ड) प्रतिबन्धों की व्यवस्था करके विविधता की रक्षा करता है। पारिख ने इस प्रतिमान के साथ व्यावहारिक उदाहरणों का उल्लेख उस प्रकार नहीं किया है जैसा वे मिलेट प्रतिमान के लिए करते हैं। प्रक्रियात्मक समावेशन की सैद्धान्तिकी को वे हॉब्स, ऑकशाट, नोजिक एवं चन्द्रन कुकाथस की रचनाओं में देखते हैं।

नागरिक समावेशन प्रतिमान की चर्चा करते हुए पारिख कहते हैं कि इस समावेशन का तर्क यह है कि राजनीतिक समुदाय के लिए सत्ता की संरचना के सन्दर्भ में ही सहमति की अपेक्षा नहीं होती है बल्कि सहभागी संस्कृति भी आवश्यक होती है। किन्तु यहाँ संस्कृति समग्र रूप से (कम्प्रिहेन्सिव) जीवन को आच्छादित नहीं रखती है और इसीलिए ऐसे समाजों में सहभागी राजनीतिक संस्कृति एकता का आधार प्रस्तुत करती है। इस राजनीतिक संस्कृति में लोक क्षेत्र (पब्लिक) एवं आत्म–सहमति (सेल्फ अण्डरस्टैण्डिंग) के तत्त्व मिले होते हैं। नागरिक अपने स्वतन्त्र विवेक से चुने गये व्यक्तिगत परिक्षेत्र (प्राइवेट रेल्म) में स्वतन्त्र होते हैं। यहाँ लोकक्षेत्र एकरूपता (एकता) और व्यक्तिगत परिक्षेत्र (जिसमें पारिख परिवार एवं नागरिक समाज को रखते हैं) विविधता को आत्मसात किए होता है। पारिख ने लॉक के चिन्तन में इस प्रतिमान के सैद्धान्तिकी को खोजा है। इसे आगे चलकर जॉन रॉल्स के पॉलिटकल लिबरलिज्म में एवं हैबरमास (1993) के चिन्तन में भी देखा जा सकता है।

मिलेट प्रतिमान की पारिख ने विशेष रूप से चर्चा की है। इस प्रतिमान में सांस्कृतिक समुदायों की स्वायतत्ता, महत्त्व एवं भूमिका अन्य प्रतिमानों से अधिक है। यह प्रतिमान समुदायों के नैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में हस्तक्षेप का कोई नैतिक अधिकार राज्य को नहीं देता है। बल्कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

राज्य का यह दायित्व बनता है कि वह समुदायों की संस्कृति, मूल्यों, व्यवहार के प्रतिमानों, पारिवारिक जीवन आदि की समुदायों की पृष्ठभूमि के अनुकूल संवर्धन एवं रक्षण करे। यहाँ राज्य समुदायों का समुदाय नहीं है। वास्तव में यहाँ राज्य का समुदायों के साथ संबंध एक ढीले संघ (लूज फेडरेशन) की तरह होता है। मिलेट प्रतिमान में राज्य समुदायों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता है बल्कि उनकी स्वायतत्ता का सम्मान करता है। इस प्रतिमान में व्यक्ति की निष्ठा पहले अपने समुदाय के प्रति और बाद में राज्य के प्रति होती है। इस प्रतिमान की चर्चा करते हुए पारिख प्राचीन ग्रीक एवं रोम की चर्चा करते हैं जहाँ व्यापारियों, यात्रियों एवं अन्य निवासियों को अपनी परम्परा एवं रीति–रीवाज से अधिशासित होने की व्यवस्था थी। मध्यकालीन इंगलैण्ड में लोम्बार्ड एवं बाल्टिक व्यापारियों के इन्क्लेव की भी चर्चा पारिख करते हैं जो अपनी परम्पराओं से अधिशासित होते थे। समकालीन भारत में सामुदायिक विधान (पर्सनल लॉ) के प्रचलन को भी मिलेट प्रतिमान का ही उदाहरण पारिख मानते हैं।

राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया एवं उसमें अल्पसंख्यकों की स्थिति के आधार पर भी बहुसंस्कृतिवाद के प्रतिमान निर्मित होते हैं। इस संबंध में चार्ल्स टेलर का मानना है कि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया बहुसंख्यकों को बहुत अधिक विशेषाधिकार प्रदान करती है। टेलर मानते हैं कि आधुनिक समय में यदि कोई ऐसी भाषा और संस्कृति है जिसे राज्य परिभाषित करता है और बढ़ावा देता है तथा जिसका प्रयोग अर्थव्यवस्था एवं राज्यव्यवस्था दोनों में ही होता है तब इस भाषा एवं संस्कृति से जुड़ें लोगों को विशेष लाभ मिलता है। इस अवस्था में अल्पसंख्यकों को विशेष नुकसान पहुँचाता है। इस स्थिति में अल्पसंख्यकों के समक्ष जैसा कि विल किमलिका लिखते हैं पाँच विकल्प हो सकते हैं। प्रथम, वे समीपवर्ती राज्य में चले जायें जो उन्हें स्वीकार करना चाहता हो। द्वितीय, वे कुछ बेहतर विकल्पों एवं निष्पक्ष शर्तों के साथ बहुसंख्यक संस्कृति के साथ एकीकरण कर लें। तृतीय, वे अपनी भाषा एवं संस्कृति की रक्षा एवं विकास के लिए स्वशासन की माँग कर सकते हैं। चतुर्थ, वे स्थायी रूप से बहिष्करण को स्वीकार कर सकते हैं। या पंचम, वे सैनिक क्रान्ति एवं तख्ता पलट का सहारा ले सकते हैं।

बहुसंस्कृतिवाद के उपयुर्क्त प्रतिमानों के सन्दर्भ में निष्पक्ष रूप से कुछ निष्कर्षात्मक टिप्पणी की जा सकती है। सर्वप्रथम तो यह बात कही जा सकती है कि इनमें एकीकरण का तात्पर्य राजनीतिक एकीकरण एवं नियन्त्रण है न कि सांस्कृतिक समावेशन। द्वितीय, यह सभी आदर्श प्रारूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जैसे हैं। व्यवहार में विविधता एवं एकता के सांस्कृतिक परिदृश्य में पृथक्–पृथक् रूप से इन प्रतिमानों को क्रियाशील नहीं देखा जा सकता है। तृतीय, किसी भी समाज में सांस्कृतिक विविधता के भीतर से एकता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न स्तरों पर अलग–अलग शक्तियाँ एवं प्रेरक क्रियाशील होते हैं। उनकी भूमिका, सक्रियता का स्वरूप एवं प्रभाव भी सदैव एक जैसे नहीं होते हैं। जबकि, उपर्युक्त प्रतिमानों में ऐसा लगता है जैसे सांस्कृतिक एकता की प्राप्ति एवं विविधता की रक्षा के लिए जैसे एक ही शक्ति क्रियाशील रहती हो और उसका स्वरूप केन्द्र से परिधि तक एक ही जैसा रहता हो। चतुर्थ, सांस्कृतिक विविधताओं के मध्य राजनीतिक एकता की स्थापना एवं सांस्कृतिक विविधता के मध्य सांस्कृतिक एकता की स्थापना दो अलग–अलग प्रश्न हैं। सांस्कृतिक विविधता के मध्य राजनीतिक एकता की स्थापना तब समस्या उत्पन्न करती है जब समूहों के मध्य सांस्कृतिक एकता के सूत्र कमजोर हों। वास्तव में सांस्कृतिक विविधता के मध्य सांस्कृतिक एकता की स्थापना अधिक महत्त्वपूर्ण एवं चुनौतीपूर्ण है। ऐसा कहने का निहितार्थ यह है कि सांस्कृतिक एकता की स्थापना सूक्ष्म सामाजिक गतिकी (माइक्रो सोशल डायनमिक्स) के अधिक नजदीक का विषय है। इस अवस्था में सांस्कृतिक समुदायों में जिन एकता के तत्त्वों का सहज–आत्मबोध के साथ स्विकारोक्ति पनपती है वे आगे चलकर जब स्थूल राजनीतिक गतिकी (मैक्रो पॉलिटिकलं डायनमिक्स) में अभिजन संघर्ष के कुचक्र में नहीं पड़ते हैं, तब जाकर सांस्कृतिक एकता का सृजन होता है। इन चन्द पक्तियों के यथार्थ को साकार होने में शताब्दियाँ बीत जाती है। आज के बहुसंस्कृतिवाद में विभिन्न संस्कृतियों के मध्य राजनीतिक एकता के लक्ष्य को और सांस्कृतिक समानता के लक्ष्य को कुछ इसी प्रकार के विधानों को पारित करके एवं कुछ इसी प्रकार के विभागों की स्थापना करके त्वरित रूप से प्राप्त कर लेने का प्रयास किया जाता है। फलतः सांस्कृतिक एकता और समानता जो भले ही उपर से राजनीतिक यथार्थ बनता हुआ दिखता हो किन्तु उसे सामाजिक यथार्थ बनना बाकी ही रह जाता है।

बहुसंस्कृतिवाद : सांस्कृतिक एकता एवं समानता का द्वन्द एवं उदारवादी पहचान एवं मान्यता की राजनीति का भ्रम

बहुसंस्कृतिवाद का सैद्धान्तिक धरातल अत्यन्त कमजोर है। इस स्थापना को ऐतिहासिक तथ्यों एवं सैद्धान्तिक तर्कों से स्थापित किया जा सकता है। इस हेतु जिस कनाडा के बहुसंस्कृतिवादी प्रतिमान को एक आदर्श प्रारूप के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, सबसे पहले उसी के संस्कृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की चर्चा कर लेना उचित होगा हैं। जिसे कनाडियन संस्कृति कहा जाता है वह फ्रेंच एवं स्पेनिश (आव्रजित औपनिवेशिक शक्तियों) प्रभाव से आच्छादित है। ये दोनों समूह प्रभाव और भाषायी परिपक्वता की दृष्टि से तथा जनांकिकीय भौगोलिक समूहीकरण की दृष्टि से ऐसे बसे हुए हैं कि अपनी भाषा एवं संस्कृति की रक्षा करते हुए प्रतिरोधी शक्ति एवं क्षमता विकसित कर लिये हैं। कनाडा का एक बड़ा समूह औपनिवेशिक काल से ही (ब्रिटिश प्रभाव के बाद से) कृषि एवं अन्य कार्यों हेतु लाए गये लोगों का है जो धीरे–धीरे वहीं के होकर रहे गये हैं। शेष मूल निवासी हैं। अब विचार करें कि क्या कनाडा जैसा देश स्वयं संस्कृतियों का अजायबघर नहीं रहा है। ऐसे देश में सामासिक संस्कृति का विकास किस प्रकार हो सकता है। ऐसे समाज में जीवन का लक्ष्य और जीवन के मूल्य क्या हो सकते हैं? स्वाभाविक है कि इन सबका निर्धारण ऐसे समाज में सूक्ष्म सामाजिक गतिकी के बजाय स्थूल राजनीतिक गतिकी से सम्भव है। यह सम्भाव्यता अभिजन संघर्ष के स्वरूप एवं परिणाम पर भी आधारित है। किन्तु यह सब जब एक जगह जड़ जमा चुकी और उन्मूलित होकर दूसरी जगह जड़ जमाने की कोशिश में संलग्न संस्कृतियों के मध्य होता है तब सब कुछ स्वाभाविक सांस्कृतिक अनुरूपण का परिणाम नहीं होता है। ऐसी स्थिति में समूहों के मध्य परस्पर सहमति के तत्त्व में कितना हिस्सा म्यूच्यूअल रिसपेक्ट का और कितना हिस्सा टालरेन्स का होता है, यह समझना कठिन है। हकीकत यह है कि विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के मध्य परस्पर सम्मान के तत्त्वों का उत्पन्न होना सूक्ष्म सामाजिक गतिकी का परिणाम है और टालरेन्स का विकसित होना स्थूल राजनीतिक गतिकी का परिणाम है। कनाडा के आधुनिक इतिहास में पहले तत्त्व पर दूसरे ने अधिकार स्थापित कर लिया है।

टालरेन्स की संस्कृति को पूँजीवादी उदारवादी राजनीतिक आर्थिकी ने धीरे–धीरे ऐसा जामा पहना दिया है, जहाँ यह परस्पर सम्मान जैसा आभाषित होने लगा है। अन्यथा क्या वजह है कि आज भी कनाडा में आव्रजित समूहों के लोगों को समान योग्यता एवं दक्षता के होने पर भी मूल निवासियों की अपेक्षा कम वेतन एवं कमतर दर्जे के कार्यों में नियोजित किया जाता है (एन. एलिस : 2003)। कुछ ऐसी ही स्थिति आस्ट्रेलिया की भी है। 2011 की जनगणना के अनुसार 34.3 प्रतिशत आस्ट्रेलियाई नागरिकों के माता एवं पिता दोनों ही आस्ट्रेलिया से बाहर के रहे हैं (सी.पी.ए. : 2012)। एलिस ने तो अपने अध्ययन में कनाडा के घटते जन्मदर को भी आव्रजन को प्रोत्साहन देने वाला कारक बताया है। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर विचार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करने से यही प्रकट होता है कि आज अपने को बहुसंस्कृतिवादी राष्ट्र कहने वाले राष्ट्रों के समक्ष इस नीति को अपनाना महज एक बाध्यता है। फलतः यदि यह कहा जाता है कि बहुसंस्कृतिवाद ने मानव मुक्ति के प्रश्न को पूँजीवादी उदारवादी प्रणाली की रक्षा के लिए पीछे धकेल दिया है और जाति, संस्कृति, पहचान आदि के प्रश्न को अपनी रक्षा के लिए ढाल बना लिया है, तब इसमें गलत क्या हैं ? वास्तविकता यह है कि लोककल्याणकारी राज्य और मुख्यधारयी बहुसंस्कृतिवाद के द्वारा पुनर्वितरण एवं पहचान की राजनीति को एक भ्रमित दिशा दी जा रही है और इससे सबके लिए न्याय की प्राप्ति सम्भव नहीं है (नैन्सी फ्रेजर 1998 : 41)।

अब यहाँ बहुसंस्कृतिवाद के विमर्श के कदाचित् सर्वाधिक विवादास्पद कहे जा सकने वाले सैद्धान्तिक कमजोरी की चर्चा कर लेना उचित होगा। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि उदारवाद (उदारवादी–बहुसंस्कृतिवाद को मुख्यधारा मानने पर) में पहचान, और सम्मान का आधार सैद्धान्तिक रूप से क्या है? इस प्रश्न का अत्यन्त विवादास्पद किन्तु तार्किक उत्तर देने का प्रयास चार्ल्स टेलर ने किया है। उदारवाद में सम्मान का आधार मानवीय गरिमा है। मनुष्य सम्मान का पात्र इसलिए है कि वह विवेकपूर्ण तरीके से अपने जीवन लक्ष्यों को परिभाषित कर सकता है। टेलर ने सम्मान (ऑनर) की जगह गरिमा को प्रतिष्ठित करने के सैद्धान्तिक प्रयासों के सूत्र को रूसो के चिन्तन से जोड़ा है। प्रतिष्ठा व्यक्ति के गुण, विरासत एवं कृत्यपरक था और विभेदपरक था जबकि गरिमा एक सार्वभौमिक अवधारणा के रूप में रूसो के चिन्तन में प्रस्तुत हुआ और सभी को समान रूप से गरिमा का पात्र समझा गया (चार्ल्स टेलर 1992 : 37–40)। अब प्रश्न यह है कि सभी मनुष्य जब समान रूप से गरिमा के पात्र हैं तब वे पृथक् पहचान क्यों चाहते है? और यदि वे पृथक् पहचान की इच्छा रखते हैं तब कर्म एवं गुण–वैशिष्ट्य के बिना यह पहचान निर्मित कैसे होगा? यदि कर्म एवं गुण–वैशिष्ट्य को पहचान का आधार माना जाय तब यह लोकतान्त्रिक समानता के तकाजे का उल्लंघन होगा, क्योंकि कर्म एवं गुण–वैशिष्ट्य की प्राप्ति के सहायक तत्त्वों पर सभी का समान रूप से अधिकार नहीं है और न ही कर्म एवं गुणात्मक वैशिष्ट्य की प्राप्ति में सभी समान रूप से दक्ष हो सकते हैं। यहाँ पेचीदा अवधारणात्मक मामला यह है कि समान मानवीय गरिमा के साथ पृथक् पहचान का समायोजन कैसे किया जाय। पश्चिम की मुख्यधारा बौद्धिकता ने हमेशा इस प्रश्न से दूर से ही दो–चार होने का प्रयास किया है। नीत्शे, काण्ट, कार्ल मार्क्स, सात्र एवं जॉन राल्स आदि की रचनाओं में जहाँ यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पड़ाव आया वहाँ से उन्होंने चुपके से ही निकल जाने में अपनी बुद्धिमता का प्रदर्शन किया है। सम्प्रति समुदायवादियों ने जब सामुदायिक पहचान में व्यक्ति की अस्मिता के तत्त्व को खोजने का प्रयास किया तब उनके हाथ से सार्वभौमिक मानव–गरिमा का सूत्र छूट गया। अब पश्चिम में बहुसंस्कृतिवादियों ने इस प्रोजेक्ट में अपनी बौद्धिकता से जो जैसा है वैसा ही ठीक है के तार्किकता पर नई बहस को आरम्भ कर दिया है। जबकि, बहुसंस्कृतिवाद की प्रस्तावक आनुपांगिक शक्तियों के द्वारा ही जो जैसा है उसे वैसा ही बनाने की तीव्र मुहिम भी चल रही है।

वस्तुतः बहुसंस्कृतिवाद के सम्पूर्ण उपक्रम में विविधता की तार्किक और यथार्थपरक मीमांसा अपेक्षित है। इस उपक्रम को जीवन मूल्यों एवं सांस्कृतिक विविधता की चर्चा से आगे बढ़ना होगा और यह विचार करना होगा कि सभी संस्कृतियाँ अपने उद्‌भव और विकास में संवेदी होती हैं। आज के समय में संस्कृतियों की देश–काल संवेदिता पुनर्व्याख्या की माँग कर रहे हैं, क्योंकि दुनिया सिमटती जा रही है। अतः अब विभिन्न संस्कृतियों में निहित उदात्त मानवीय मूल्यों के धरातल पर समावेशन की चर्चा होनी चाहिए। इस उपक्रम में समन्वित जीवन मूल्यों पर विचार करना होगा और समावेशी–मानवीय दृष्टि से (इन्क्लूजनरी–ह्यूमनिस्टिक एप्रोच) जीवन मूल्यों एवं उनके सांस्कृतिक आधारों की सोपानिक स्थिति तय करनी होगा। जाहिर सी बात है कि जीवन मूल्यों की कोई भी सांस्कतिक प्रणाली इस सोपानिक वर्गीकरण में अपने को नीचे रखने का प्रतिरोध करेगी। हमें प्रतिरोध के आधारों को निष्पक्षता से समझना होगा। यह कार्य आसान नहीं है। समन्वित जीवन मूल्यों की सांस्कृतिक प्रणालियों के सोपानिक वर्गीकरण में समकालीन वैश्विक संरक्षणवादी हित सबसे बड़े बाधक तत्त्व हैं। जब तक संसाधनों के अधिकतम भाग का उपभोग करने वाली शक्तियाँ अपने संरक्षणवादी विशेषाधिकारों को छोड़ने के लिए अग्रसर नहीं होंगी तब तक विभिन्न संस्कृतियों के मध्य संशय एवं अविश्वास का बीज भी समाप्त नहीं होगा। इस प्रकार के संशय एवं अविश्वास के बने रहने पर सम्प्रभुता आधारित राष्ट्र–राज्य प्रणाली से इतर संस्कृतियों की रक्षा का कोई दूसरा माध्यम भी विकसित नहीं हो सकता है। परन्तु राष्ट्र–राज्य की भौगोलिक अक्षुण्णता एवं सांस्कृतिक संरक्षण की क्षमता आज के वैश्वीकृत युग में चूकती जा रही है। समस्त संस्कृतियों के उदात्त सांस्कृतिक मूल्यों (त्याग, करूणा, सेवा, आत्मीयता, अनौपचारिकता, संतोष, अपरिग्रह आदि) में संक्रमण हो रहा है। फलतः आज की समस्त संस्कृतियाँ, अर्जन, प्रतिकार, प्रतिस्पर्धा, औपचारिकता, परिग्रह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एवं असंतोष जैसे तत्त्वों से आच्छादित हो रही हैं। यदि इस तथ्य को नकारने का प्रयास किया जाय तो वास्तव में यह आत्म प्रवंचना के अतिरिक्त कुछ और नहीं होगा। और यदि इन तथ्यों को स्वीकार कर लिया जाय तब बहुसंस्कृतिवाद अप–संस्कृतिकरण में संलग्न संस्कृतियों के मध्य मेल–जोल बढ़ाने के उपाय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसमें पुनर्वितरण एवं पहचान का प्रश्न महज एक भौतिक मामला बनकर रह जाता है और इस प्रश्न की उपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति वास्तव में यश की इच्छा के कारण भी पहचान की माँग करता है। यह यश की इच्छा व्यक्ति में निहित अमरत्व की इच्छा का प्रतिफलन है। अमरत्व की इच्छा मनुष्य में ईश्वरीय अंश की अभिव्यक्ति का परिणाम है। किन्तु, जब ईश्वर की संतान होने का विशेषाधिकार एक को ही प्राप्त हो और ईश्वर के संदेश का वाहक बनने का विशेषाधिकार जब दूसरे को ही प्राप्त हो और वह ईश्वर इस जगत् से परे हो तब पहचान के प्रश्न को यश एवं अमरत्व से जोड़कर देखना सम्भव नहीं रह जाता है। सच्चाई यह है कि मानव के उद्विकास के ज्ञात तथ्य चाहे जो भी दावा करते हों किन्तु मनुष्य को मानवता के लिए एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक और यूरोसेन्ट्रिक परिधि के बाहर लाना ही होगा। अन्यथा, नित नये विमर्श और नित नयी समस्यायें मानवीय विकास को उसी अवस्था पर रोके रखेंगी जो पाश्चात्य ज्ञानोदय की परिधि तक ही सीमित होकर रह जायेगा।

राजनीतिशास्त्र विभाग,
आर्य महिला पीजी कालेज
चेतगंज, वाराणसी–221002

पाद टिप्पणी –

1. *इस सन्दर्भ में विचारणीय है कि पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली और विज्ञान तथा तकनीक जिस एकीकरण की ओर इस दुनिया को ले जा रहे हैं उसमें भाषा, खान–पान, रहन–सहन, शिक्षा, पहनावा, धार्मिक प्रतीकों एवं आस्था से विलगाव एवं वैवाहिक तथा पारिवारिक रीति–रिवाजों के परम्परागत प्रणालियों का ऐसा ह्रास हो रहा है जिसमें एक प्रकार के समरूपण की अभीप्सा बलवती हो रही है। वह समरूपण है धन, पद, प्रतिष्ठा एवं गरिमा का उदारवादी मूल्यों (इसमें उपभोक्तावाद को जोड़ना आवश्यक होगा) के साथ सामीप्य बोध। इस सामीप्य बोध के मार्ग में उन राष्ट्रों के मुख्यधारा संस्कृति की जो कड़ियाँ दूसरी संस्कृतियों को एलियन और अन्त्यज संस्कृतियों को निम्न करार देने वाली मान्यतायें थीं उन्हें ही बहुसंस्कृतिवाद के नाम पर ढीला किया जा रहा है। इस ढील के साथ यह*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Amrutam Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपेक्षा जुड़ी हुई है कि इससे कनाडा में आकर या आस्ट्रेलिया में आकर बसने वाला कोई भी एशियाई या अफ्रीकी पहले अपने को कनाडियाई या आस्ट्रेलियाई मानेगा और फिर अपने मूलवंश, जाति आदि के प्रति निष्ठा रखेगा। इस समीकरण में विजातीय संस्कृति के लोगों की राजनीतिक निष्ठा की प्राप्ति का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, यह धीरे–धीरे स्पष्ट होने लगा है। यूरोपीय परिषद् के द्वारा बहुसंस्कृतिवाद को समावेशन के एक प्रतिमान के रूप में नकारना (कांउसिल ऑफ यूरोप 2008 : 10), नीदरलैण्ड के द्वारा बहुसंस्कृतिवाद के स्थान पर कठोर नागरिक एकीकरण को बढ़ावा देना (एनजिंगर 177–201) एवं अनिवार्य नागरिक एकीकरण का डच प्रतिमान (जॉप्पके :2007) यह बताता है कि राजनीतिक निष्ठा की प्राप्ति के लक्ष्य में असफल होने पर बहुसंस्कृतिवाद से मोहभंग हुआ है। राजनीतिक निष्ठा की प्राप्ति का लक्ष्य महत्त्वपूर्ण होने एवं सांस्कृतिक उत्थान या समावेशन का लक्ष्य गौण होने के कारण ही इन प्रयासों को मैंने आधे–अधूरे प्रयास कहा है।

2. बहुसंस्कृतिवादी आग्रहों को भी सार्वभौमिकतावादी आग्रह मानने के पीछे मेरे दो तर्क हैं। प्रथम, इसमें विभिन्न संस्कृतियों के पहचान को मान्यता देने या समानता के धरातल पर स्वीकार करने के राजनीतिक उद्देश्य हैं न कि विभिन्न संस्कृतियों का सांस्कृतिक हित। द्वितीय, उदारवादी राज्यों (व्यावहारिक तौर पर यही सत्य है) के समक्ष उत्पन्न सेवा क्षेत्र में कार्मिकों की कमी उन्हें आव्रजन के जरिये इस कमी को पूरा करने का विकल्प उपलब्ध कराता है। किन्तु, आव्रजित समूहों के प्रति अब वे वैसा व्यवहार नहीं कर सकते हैं जैसा वे औपनिविशिक काल में करने के लिए स्वतन्त्र थे। क्योंकि, आव्रजित समूहों को अब अपने–अपने राष्ट्र राज्यों का संरक्षण प्राप्त है और उनके संरक्षण के लिए अनेक अन्तराष्ट्रीय विधियाँ भी प्रचलित हैं। अतः आव्रजित समूहों के सांस्कृतिक पहचान की सुरक्षा अपने को बहुसांस्कृतिक कहने वाले राष्ट्रों की आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यता भी है। अतः बहुसंस्कृतिवाद आज के उदारवादी राज्यों के लिए बाध्यता की राजनीति का हिस्सा है न कि 'स्वतन्त्र चयन की राजनीति' का हिस्सा। इस बाध्यतामूलक राजनीति की प्रक्रिया में एक उदारवादी– बहुसंस्कृतिवादी राज्य सदैव विभिन्न समूहों के सांस्कृतिक औचित्य के निर्धारण में उत्पन्न विवादों में समूहों की सांस्कृतिक आस्था के बजाय व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पक्ष लेता है जिससे अन्ततः उदारवादी महाविचार ही प्रतिष्ठित होते हैं। इस तथ्य को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अब अनेक उदारवादी– बहुसंस्कृतिवादी राष्ट्रों में सिखों को कृपाण रखने और पगड़ी के कारण हेलमेट न पहनने की छूट है। यह सिख समुदाय की माँग भी है और इस माँग को पूरा करने में मुख्य धारा नागरिक विधान में समाशोधन की भी जरूरत पड़ी है। इस जरूरत को पूरा करके संबंधित बहुसंस्कृतिवादी राष्ट्र संस्कृति एवं समानता के द्वन्द को बहुसंस्कृतिवादी तर्क से हल करके अपनी पीठ भी थपथपा सकता है। किन्तु, इसी सिख समुदाय का कोई व्यक्ति गोमांस भक्षण करना चाहे तब सिख समुदाय को उस व्यक्ति को ऐसा करने से रोकने के लिए सांस्कृतिक तर्कों के आधार पर अधिकृत नहीं किया जाएगा। बल्कि, उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रतता के तर्क और न्याय पर अपने समूह के निर्णय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के विरूद्ध राजकीय सुरक्षा दी जाएगी। इस उदारण को एक अन्य सन्दर्भ में भी पुष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए किसी समुदाय की कोई स्त्री या पुरूष समलैंगिकता का दावा पेश करता है तब बहुसांस्कृतिक राज्य क्या करेगा? इस स्थिति में बहुसांस्कृतिक राज्य समूह की संस्कृति (आज तक कोई भी सांस्कृतिक समूह पूर्ण रूप से या बहुसंख्यक रूप से समलैंगिकता का समर्थक नहीं हो पाया है, अपितु बहुसंख्यक स्वर इसका विरोधी ही होता है) की उपेक्षा करेगा और समलैंगिक स्त्री या पुरूष को ईकाई (इन्डिविजुअल) मानकर न्याय प्रदान करने का प्रयास करेगा। यही बात उस स्त्री पर भी लागू होगी जो अपने सांस्कृतिक समूह के किसी पितृसत्तात्मक सांस्कृतिक ईकाई (कल्चरल ट्रेट) को नकारने की कोशिश करेगी। इस तरह से तो बहुसंस्कृतिवाद के नाम पर एक तीसरी सांस्कृतिक धारा के निर्माण का उपक्रम प्रारम्भ हो जाएगा और वे संस्कृतियाँ (भले ही आज उनमें कुछ विकृति भी हो) निर्मूल हो जायेंगी जिनके लिए आज पहचान की राजनीति के तर्क पर बहुसंस्कृतिवाद का सृजन हुआ है।

3. यहाँ पश्चिम को भारतीय अनुभवों का संज्ञान लेने की जरूरत है कि कैसे विविधता एवं एकता के द्वैध को दूर करने का कोई वैकल्पिक प्रतिमान कार्य करता है। हॉल ही में इस सन्दर्भ में भारतीयता के सामासिक अर्थ–सन्दर्भ (अम्बिका दत्त शर्मा :2014) नामक ग्रन्थ में इस विषय पर सारगर्भित विचार व्यक्त किए गये हैं।

4. उपसांस्कृतिक विविधता (सब–कल्चरल डायवरसिटी) की व्याख्या करते हुए भीखू पारिख लिखते हैं कि किसी बृहद् सांस्कृतिक समुदाय के भीतर सामान्य (कॉमन) सांस्कृतिक परम्पराओं एवं विश्वासों को स्वीकार करते हुए भी जो लोग अपनी कुछ अलग माँग एवं पहचान की हिमायत करते हैं वह उपसांस्कृतिक विविधता है। जैसे– गे, लेसबियन, उच्चस्तरीय कार्यकारी (जेट–सेट ट्रान्सनेशनल एग्जिक्यूटिव), कलाकार, अल्पसंख्यक इत्यादि। ऐसे लोग जैसा कि पारिख कहते हैं, कोई वैकल्पिक संस्कृति का दावा नहीं करते हैं बल्कि अपनी वर्तमान संस्कृति को ही बहुलतावादी बनाने का आग्रह करते हैं (भीखू पारिख 2000 :3)।

5. परिप्रेक्ष्यात्मक विविधता (प्रेसपेक्टिवल डायरसिटी) वह विविधता है जो किसी बृहद् सांस्कृतिक समुदाय या समुदायों के भीतर से प्रायः तीखे आलोचना के स्वर में विरोधी दावों के रूप में सामने आता है। पारिख इस विविधता को व्यक्त करने के लिए पितृसत्तात्मक संस्कृति में बदलाव हेतु नारीवादी स्वरों, धार्मिक समूहों की धर्मनिरपेक्षता के विरूद्ध दावों एवं पर्यावरणविदों के मानवकेन्द्रितता (एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक) एवं तकनीक केन्द्रितता के विरूद्ध आपेक्षों का उदाहरण लेते हैं। इन माँगों में प्रभावी संस्कृति के रूपान्तरण की माँग होती है (भीखू पारिख 2000:3)।

6. सामुदायिक विविधता (कम्यूनल डायवरसिटी) के अन्तर्गत पारिख ने उन सांस्कृतिक समूहों को रखा है जो विभिन्न संगठित सांस्कृतिक समुदाय हैं, चाहे वे नए आव्रजित समूह हों या फिर क्षेत्रीय आधार पर संगठित देशज समूह हों। इनमें जिप्सी, अमिश, क्यूबेक, वेल्श आदि कोई भी हो सकता है या धार्मिक समूह हो सकते हैं (भिखू पारिख 2000 : 3–4)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

7. राजीव भार्गव ने बहुसंस्कृतिवाद के विभिन्न प्रारूपों की एक सुसंगत वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसमें वे इगेलिटेरियन मल्टीकल्चरलिज्म, लिबरल मल्टीकल्चर–लिज्म एवं अथारीटेरियन मल्टीकल्चरलिज्म की चर्चा करते हैं (राजीव भार्गव 1999:12–13)।
8. इस तथ्य का सन्दर्भ उस परिस्थिति से है जिसमें आधुनिकता के साथ–साथ यूरोप में विभिन्न नृजातीय समूहों, धार्मिक मतवादों, भाषाओं आदि का लोप होता चला गया। फलतः यूरोप के उन्नत राष्ट्रों में एकजाति–एक भाषा–एक धर्म एवं एक संस्कृति के समीकरण पर सम्पूर्ण प्रगति एवं विकास को केन्द्रित करने का प्रयास किया गया। इस एकरूपता में ही औद्योगिक उत्पादन के लक्ष्य, मुद्रा विनिमय की एकरूप प्रणाली, विधि की सर्वोच्चता एवं एकरूपता, विधि के समक्ष समानता, एकरूप सामाजिक विधायन, औद्योगिक उत्पादन तथा केन्द्रीकृत उत्पादन के अधिशेष के खपत के लिए खान–पान एवं रहन–सहन के लिए एकरूप मनोविज्ञान का सृजन सम्भव था।
9. इसका आशय यह है कि तब मजदूर वर्ग की स्थिति इस सन्दर्भ में स्पष्ट नहीं थी कि वे आधुनिक कही जाने वाली संस्कृति को अपनाने हेतु अपने सामुदायिक संस्कृति को छोड़ने का कितना दाँव लगा सकते हैं। प्रकट रूप से तब मजदूर वर्ग की माँगों में काम के घण्टों को मानवीय तर्क पर सुनिश्चित करना, कार्य की परिस्थितियों में सुधार करना और पारिश्रमिक वृद्धि करना ही था। मजदूर वर्ग द्वारा यदि अपने बच्चों की शिक्षा के मामले को लेकर उठायी गयी माँगों को भी इसमें जोड़ दिया जाय तो वे तत्कालीन पूँजीवादी शिक्षा–प्रणाली का ही विस्तार अपने बच्चों के लिए भी चाहते थे। इससे तो आधुनिक संस्कृति के प्रति मजदूरों के आग्रही दृष्टिकोण की ही झलक मिलती है।
10. इस सन्दर्भ में विद्वानों के मध्य व्यापक मतभेद है। नैन्सी फ्रेजर पुर्नवितरण की राजनीति एवं पहचान की राजनीति के मध्य स्पष्ट अन्तर का प्रस्ताव करती हैं (नैन्सी फ्रेजर :1998)। विल किमलिका इस सन्दर्भ में मध्यवर्ती मार्ग अपनाते हैं तथापि उनका झुकाव दोनों के मध्य पृथक्करण की ओर ही है (विल किमलिका : 2010)।
11. यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि कार्ल मार्क्स, एंजेल्स, लेनिन या किसी अन्य समाजवादी क्रान्ति के उन्नायक ने मनुष्य के ऐसे स्वभाव एवं सर्वहारा क्रान्ति के बाद की स्थितियों को इस रूप में तो नहीं दर्शाया है। वास्तव में इस सन्दर्भ में जो मौन मार्क्सवादी चिन्तन में है, वह मार्क्सवाद की अनेकों दुविधाओं में से एक दुविधा है। मार्क्स और उसके अनुगामियों की तो यह सोच थी कि सर्वहारा क्रान्ति के बाद एक नयी संस्कृति एवं समाज का उदय होगा। आगे चलकर ग्रामशी ने इस सोच की जड़े हिला दी। उन्होंने बताया कि क्रान्ति से अधिसंरचना में शक्ति के द्वारा वैधता उत्पन्न करने वाली (पुलिस, जेल, न्यायालय, सेना आदि) संरचनाओं में परिवर्तन तो हो जायेगा किन्तु सहमति के द्वारा वैधता उत्पन्न करने वाली (शिक्षा, परिवार, संस्कृति, मूल्य आदि) संरचनाओं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में परिवर्तन नहीं होगा। तब जाकर मार्क्सवादियों ने सांस्कृतिक रूपान्तरण के अन्य समीकरणों पर ध्यान केन्द्रित किया। यह प्रयास भी मनुष्य को उसके अतीत, संस्कृति, आस्था प्रणाली, विश्वास आदि से विहीन बना देने का ही प्रयास था। इसी परिप्रेक्ष्य में यह कहा गया है कि मार्क्सवाद में भी क्रान्ति की सफलता के लिए व्यक्ति को पृष्ठभूमि रहित समझने का विचार उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार यह ज्ञानोदय एवं डी आन्टोलॉजिकल लिबरलिज्म में है।

12. पितृभावी संस्कृति (पैटरनल कल्चर) शब्द का प्रयोग यहाँ एक विशेष अर्थ में किया जा रहा है। जिस तरह पिता अपने संतान को अपनी संस्कृति में दीक्षित करना चाहता है और इसके लिए प्रलोभन, अनुशासन आदि का सहारा लेता है उसी प्रकार उदारवाद भी अपने अनुरूप अन्य संस्कृतियों को रूपान्तरित करने के लिए बहुसंस्कृतिवाद के रूप में प्रकट हुआ है। यहाँ प्रलोभन भौतिक उपलब्धियों का है और अनुशासन विरासत से बाहर हो जाने के भय का। इस पूरे के पूरे उपक्रम में बाध्यतामूलकता प्रकट नहीं है, ठीक उसी तरह जैसे एक पिता अपने बाध्यतामूलक निर्णयों को भी प्रेम–भाव से प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार बहुसंस्कृतिवाद का उदारवादी उपमक्रम भी पहचान देने के प्रस्ताव (प्रेम–भाव) के आड़ में अपने सांस्कृतिक निर्णयों को स्वैच्छिक स्वीकृति के द्वारा लागू करता है।

13. इन अध्ययनों में मुख्य है (न्यूमैन : 1996) तथा तथा किटींग एवं मैक गैरी : 2001)।

14. इस वास्तविकता को प्रकट करने के लिए ब्रिटेन की बहुसंस्कृतिवादी राजनीति में सलमान रूशदी की किताब 'सैटेनिक वर्सेज' से उत्पन्न विवाद का संज्ञान लें। जैसा ब्रिटेन में हुआ और जैसा इस सम्पूर्ण परिदृश्य की चर्चा के बीच भीखू पारिख (2000:295–335) कहते हैं कि और अधिक धर्म निरपेक्ष होना ऐसी समस्याओं का समाधान है। आखिर क्यों समूह अधिकार (रूशदी के विरोधियों का समूह) के दावों पर इस समस्या का समाधान हो सकता है और क्या वह पुस्तक को प्रतिबन्धित करने में ही है। क्या इस मामले में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और समूह की संस्कृति के बीच का द्वैध ही मुख्य विषय है या आत्मलोचन (व्यक्ति एवं संस्कृति दोनों के लिए) की परम्परा को नकारना भी मुख्य विषय है। यदि रूशदी के समर्थकों के समूह की बात करें तो इस मामले का समाधान समूह विभेदीकृत अधिकार (मेरियनयंग से थोड़ा इतर अर्थ में) के दावों के परिप्रेक्ष्य में भी नहीं हुआ। इस प्रकरण में रूशदी की सुरक्षा और उसकी किताब को प्रतिबन्धित किया जाना दो अलग–अलग समूहों के माँग थे और जिनके पास अपनी माँगों के समर्थन में सांस्कृतिक एवं राजनीतिक तर्क भी थे। परन्तु, ब्रिटेन में रूशदी की सुरक्षा और पुस्तक पर प्रतिबन्ध न लगाना दोनों उदारवादी धारा के कार्य साबित हुए। हिन्दू धर्मशास्त्रों में तो ईश निन्दा की भी एक परम्परा है और परम्परा में ही उसका तार्किक प्रत्युत्तर देने की भी व्यवस्था है। क्या ऐसे मामलों में भारत और खासकर सनातन परम्परा से कुछ सीख ली जानी चाहिए? इस दिशा में वस्तुतः बहुसंस्कृतिवादियों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को अभी काफी आगे जाना होगा। अन्यथा वे प्रेशर कुकर मॉडल के समावेशन हेतु आइस बाक्स मॉडल' तैयार करके उदारवादी उपक्रम द्वारा ज्ञानोदय के निर्देवीकरण के प्रोजेक्ट को ही पुरा करते रहेगें। वास्तव में जिसे आज उदारवादी बहुसंस्कृतिवाद कहा जा रहा है उसे मैं आइस बाक्स मॉडल कहना पसंद करूँगा। जिस तरह आइस बाक्स में आइस को संरक्षित रखा जाता है फिर भी वे पिघलते ही हैं। जिस तरह बड़े आइस पीस अधिक समय तक टिके रहते हैं उसी प्रकार बहुसंस्कृतिवाद में भी सभी संस्कृतियों को पूँजीवादी–उदारवादी–उपभोक्तावादी हो ही जाना है (पिघलकर)। इसमें छोटी संस्कृतियाँ जल्दी और बड़ी संस्कृतियाँ देर से पिघलेंगी (समयोजित होंगी)।

15. मैकियावेली मुख्य रूप से राजनीतिक संगठन के बारे मे ही विचार नहीं कर रहा था। वह जनता के सम्पूर्ण सामाजिक और नैतिक गठन के बारे में सोच रहा था (जार्ज. एच. सेवाइन 1987 : 313)। इस तथ्य को मैकियावेली के चाल–बाज शासक से जोड़कर दखें जिसकी विधियाँ जनता के राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करती है। तब यह समझना आसान होगा कि मैकियावेली किस प्रकार शासन शक्ति के बल पर मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना चाहता है। यह वास्तव में एक राजनीतिक संस्कृति के निर्माण का प्रयास है। यह विचार पश्चिम में इतना प्रभावशाली साबित हुआ कि वहाँ का एक विशाल बौद्धिक समुदाय राजनीतिक संरक्षण के बिना संस्कृति के निर्माण की सम्भावना को असम्भव मानने लगा।
16. हॉब्स के सन्दर्भ में इस प्रस्थापना का आशय सामाजिक समझौता के तर्क से जुड़ा है। समझौते में सभी लोगों की भागीदारी (शासक को छोड़कर) के आधार पर इसे लोकतान्त्रिक कहा गया है। अन्यथा परिणाम की दृष्टि से वह भी निरंकुशतावादी है।
17. इन शब्दों का (डायोनिसिन एवं अपोलियाई) का प्रयोग उच्च एवं निम्न वर्ग की नैतिकता को समझाने के लिए फ्रेडरिक नीत्शे ने किया है। इस विवेचन को समझने के लिए देखे मेरा लेख (विश्वनाथ मिश्र : 2015)।
18. यह हन्ना आरेन्ट की चिन्ता है, वे इसके अनेक फलकों को उजागर करती हैं, जिनमें तानाशाही की वृद्धि और मनुष्य की घटती हुई सृजनात्मक क्षमता उनकी चिन्ता का मुख्य विषय है। देखे, (हन्ना आरेन्ट : 1958)।
19. महात्मा गाँधी का सम्पूर्ण सभ्यता विमर्श इन्हीं विसंगतियों को उजागर करता है जिसकी सूत्रवत अभिव्यक्ति "हिन्द स्वराज" में हुई है। विगत दशाब्दियों में सभ्यता विमर्श पर जो लेखन हुए है उनमें गाँधी की इस पुस्तिका के सूत्रों को व्यापक पैमाने पर उभारा गया है। देखें (हिन्द स्वराज : 2006), (अम्बिका दत्त शर्मा : 2014), (विश्वनाथ मिश्र : 2013)।
20. नृजातीय समूह के निर्माण में अभिजन संघर्ष की भूमिका को कुछ विद्वानों ने बहुत अधिक महत्त्व दिया है। जबकि, नृजातीय समूहों के निर्माण में अभिजन की भूमिका को स्वीकारते ही संस्कृति का भी एक अभिजनवादी दृष्टिकोण बन जाना स्वाभाविक है। पाल आर. ब्रास (1996) ने इस सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनायें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की हैं। यद्यपि यह पूरा का पूरा प्रयास समस्या को बीच से पकड़ लेने जैसा है। क्योंकि, संस्कृति कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं है जो कुछ लोगों द्वारा संविधान की तरह ड्राट करके लोगों को अपनाने हेतु दे दिया जाता हो। संस्कृति की भी एक जैविक विकास की तरह निर्मित एवं विकसित होने की प्रक्रिया होती है। आखिरकार जिन्हें अभिजन कहा जाता है वे निर्वात में नहीं पनप जाते हैं, उनकी भी कुछ प्रदत्त संस्कृति होती है। हाँ, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि वे संस्कृति में कुछ जोड़ सकते हैं और कुछ को निष्प्रभावी कर सकते हैं। नृजातीय समूहों के निर्माण और उनके सांस्कृतिक अनुरक्षण एवं पहचान के सन्दर्भ में ब्राश की अपेक्षा अधिक उचित नजरिया (मेरे दृष्टिकोण से) मिल्टन ईगर (1997) ने अपनाया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

- होमी के. भाभा (1998), कल्चर्स इन बिटविन, अन्तर्गत, डेविड बेनेट, (सं.) मल्टीकल्चरल स्टेट्सरीथिंकिंग डिफरेन्स एण्ड आइडेन्टीटी, रॉउटलेज, न्यूयार्क।
- पॉल केली (2002), इन्ट्रोडक्शन : बिटविन कल्चर एण्ड इक्वलिटी, अन्तर्गत, पॉल केली, (सं) मल्टीकल्चयरलिज्म रीकन्शिडर्ड कल्चर एण्ड एक्वलिटी एण्ड इट्स क्रिटिक्स, पॉलिटी, कैम्ब्रिज़।
- विलकिमलिका (2010), समकालीन राजनीति दर्शन एक परिचय, (अनुदित) पियर्सन, नई दिल्ली।
- केथ बेन्टिंग एवं विलकिमलिका (2010), कनाडियन मल्टीकल्चरलिज्म : ग्लोबल एनैक्सिटीज एण्ड लोकल डिबेट्स, ब्रिटिश जर्नल ऑफ कनाडियन स्टडीज, भाग–23, अंक–1।
- अम्बिका दत्त शर्मा (2014), भारतीयता के सामासिक अर्थ–सन्दर्भ, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
- हॉन एनजिंगर (2006), द पैरलल डिक्लाइन ऑफ मल्टीकल्चरलिज्म एण्ड द वेलफेयर स्टेट इन निदरलैंण्डस्, अन्तर्गत, केथ बेन्टिंग एवं विल किमलिका (सं) मल्टीकल्चरलिज्म एण्ड द वेलफेयर स्टेट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड।
- कॉउन्सिल ऑफ यूरोप कमेटी ऑफ मिनिस्टर्स (2008), वाइट पेपर ऑन इन्टरकल्चरल डॉयलाग, कॉउन्सिल ऑफ यूरोप, ब्रुसेल्स।
- क्रिस्टियन जॉप्पके (2007), इमिग्रैन्ट्स एण्ड सिविक इन्टिग्रेशन इन वेस्टर्न यूरोप, अन्तर्गत केनेथ बेन्टिंग एवं अन्य, (सं.), बिलॉगिंग डायवरसिटी, रिकगनिशन एण्ड शेयरड् सिटीजनशिप इन कनाडा, क्यूबेक इन्स्टिट्युट फॉर रीसर्च ऑन पब्लिक पॉलिसी, मॉन्ट्रियाल।
- भीखू पारिख (2000), रीथिंकिंग मल्टीकल्चरलिज्म कल्चरल डायवरसिटी एण्ड पॉलटिकल थ्योरी, मैकमिलन प्रेस लिमिटेड, लन्दन।
- राजीव भार्गव (1999), इन्ट्रोड्यूशिंग मल्टीकल्चरलिज्म, अन्तर्गत, राजीव भार्गव एवं अन्य (सं), मल्टीकल्चरलिज्म, लिबरलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

- डेविड बेन्नेट (1928), इन्ट्रोडक्शन, अन्तर्गत डेविड बेनेट (सं.), मल्टीकल्चरल स्टेट्स रीथिंकिंग डिफरेन्स एण्ड आइडेन्टीटी, रॉउटलेज, न्यूयार्क।
- भीखू पारिख (2002), बैरी एण्ड डेन्जर्स ऑफ लिबरलिज्म, अन्तर्गत, पॉलकैली, (सं.), मल्टीकल्चरलिज्म रीकन्शिडर्ड कल्चर एण्ड इक्वलिटी एण्ड इट्स क्रिटिक्स, पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।
- नैन्सी फ्रेजर (1998), सोशल जस्टिस इन द ऐज ऑफ आइडेन्टीटी पॉलिटिक्सः रिडिस्ट्रीब्यूशन रिकोगनिशन एण्ड पार्टीशिपेशन, अन्तर्गत, ग्रेथ पीटरसन (सं.), द टेनर लेक्चर्स आन ह्यूमन वैल्यूज, यूनिवसिर्टी ऑफ अता प्रेस, साल्ट लेक सिटी।
- जॉन रॉल्स (1971), ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, ऑक्सफोर्ड यूनिवसिर्टी प्रेस, लंदन।
- जानॅ रॉल्स (1980), कांटियन कंस्ट्रक्शन इन मॉरल थ्योरी, जर्नल ऑफ फिलॉसफी, भाग–77, अंक–9।
- जॉन रॉल्स (1993), पॉलिटिकल लिबरलिज्म, कोलम्बिया यूनिवसिर्टी प्रेस, न्यूयार्क।
- पॉल आर. ब्राश (1996), एथनिसिटी एण्ड नेशनलिज्म : थ्योरी एण्ड कम्प्रीजन, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
- जे. मिल्टन ईंगर (1997), एथनिसिटी : सोर्स ऑफ स्ट्रेन्थ, सोर्स ऑफ कानलिक्ट, रावत पबिल्केशन्स, जयपुर।
- महात्मा गाँधी (2006), हिन्द स्वराज, सर्व सेवा संघ–प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी।
- विश्वनाथ मिश्र (2013), मोहनदास करमचन्द गाँधी, अन्तर्गत अभय कुमार दूबे, (सं.), समाज विज्ञान विश्वकोश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- हन्ना एरेन्ट (1958) द ओरिजिन्स ऑफ टोटलिटेरियनिज्म, वर्ल्ड पब्लिसिंग कम्पनी, क्लीवलैण्ड।
- सॉल न्यूमैन (1996), एथनो–रीजनल कॉनलिक्टस् इन डेमोक्रेसीज : मोस्टली बैलेट्स, रेयरली बुलेट्स, ग्रीनवुड, लन्दन।
- माइकल कीटिंग एवं जॉन मैकगैरी सं., (2001), माइनॉरिटी नेशनलिज्म एण्ड द चैंजिंग इन्टरनेशनल आर्डर, ऑक्सफोर्ड यूनवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड।
- एन. एलिस (2003), द पोटेन्शियल इम्पैक्ट्स ऑफ इमिग्रेशन ऑफ प्राडक्टीविटी इन कनाडा, अन्तर्गत, चार्ल्स एम. बीच एवं अन्य (सं.), कनाडाज इमिग्रेशन पॉलिसी फॉर ट्वन्टीस्थ सेन्चुरी, क्वींस यूनिवर्सिटी प्रेस, मैक्गिल।
- नैन्सी फ्रेजर (1998), फ्रॉम रीडिस्ट्रीब्युशन टु रीकगनिशन? डायलेमाज ऑफ जस्टिस इन ए "पोस्ट सोशलिस्ट" एज, अन्तर्गत सिंथिया विलेट, (सं.) थियोराइजिंग मल्टीकल्चरलिज्म ए गाइड टू करेन्ट डीबेट, ब्लैकवेल पब्लिशर्स, ऑक्सफोर्ड।
- चार्ल्स टेलर (1992), द पॉलिटिक्स ऑफ रिकगनिशन, अन्तर्गत, एमीगटमन, (सं.), मल्टी कल्चरलिज्म एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ रिकगनिशन, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन।
- राजीव मल्होत्रा (2013), विभिन्नता पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती (अनुदित) हॉरपर कॉलिन्स पब्लिशर्स इंडिया, नोएडा।
- एस.पी. हन्टिंगटन (1997), दी क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन एण्ड दी रीमेकिंग ऑफ वर्ल्ड आर्डर, पेग्विन, नई दिल्ली।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

- जार्ज एच. सेबाइन (1987), राजनीति दर्शन का इतिहास (अनुदित), एस. चन्द एण्ड कम्पनी, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
- जुर्गेन हैबरमास मास (1993), स्ट्रगल्स फार रिकोगनिशन इन कॉन्सिटिच्युशनल स्टेट्स, यूरोपियन जर्नल ऑफ फिलॉसफी, भाग–1, अंक–2
- कम्युनिटी प्रोफोइल : आस्ट्रेलिया (2012), सेन्सस ऑफ पॉपुलेशन एण्ड हाउसिंग 2011, आस्ट्रेलिया ब्यूरो ऑफ स्टैटिसटिक्स।
- ब्रिआन बैरी (2001), कल्चर एण्ड इक्वलिटी : ऐन इगेलिटेरियन क्रिटिक ऑफ मल्टीकल्चरलिज्म, पॉलिटी, कैम्ब्रिज।
- विश्वनाथ मिश्र (2015), उत्तर आधुनिकतावाद : अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक मानवीय विवेक की तार्किक परिणति, उन्मीलन, वर्ष 29, अंक–1

◆◆◆

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चित्राद्वैतप्रकाशवादः

(मूल लेखक : आचार्य रत्नकीर्ति)

हिन्दी रूपान्तरण : हरिशंकर सिंह

।। नमस्तारायै ।।

चित्राद्वैतप्रकाशवाद नामक निबन्ध में निहित दृष्टि बौद्ध–बौद्धेतर सभी प्रतिवादियों के प्रश्नों, आपत्तिओं एवं आशंकाओं का समाधान करने वाली और इस मतसम्बन्धी अज्ञानतिमिरराशि की कदर्थिनी (तिरस्कार करने वाली) है।

यहाँ (हमारी विज्ञानवादी परंपरा में) सभी जड़–पदार्थ–राशि[1] के खण्डित हो जाने पर, निराकारविज्ञानवाद का निराकरण हो जाने पर, विज्ञान के साथ आकार का जो योग है वह अलीक है और परमार्थतः प्रकाशमात्र की ही स्थिति है – इसके असिद्ध हो जाने पर, साकारविज्ञान में आकार समारोपरूप (आरोपित) है – अतः अलीक है, इसका भलीभाँति मूलोच्छेद हो जाने पर और साकारविज्ञानमात्र स्वरूप वाले इस जगत् में प्रत्येक संतान (प्रत्येक पुद्गल) के अबाधित देह–भोग की प्रतिष्ठादि स्वप्नवत् है – इसके व्यवस्थित हो जाने पर[2] यह स्थिति स्पष्टतः बनती है कि जिसका जिस समय में जिस आकारचक्रप्रतिभास वाला जो भी विज्ञान परिस्फुरित होता है उसका उस समय में उस आकारचक्र से समूहबद्ध वह विज्ञान चित्राद्वैतरूप ही होता है।[3] इस प्रकार हमारे समक्ष चित्र, अद्वैत और विज्ञान ये तीन पद उपस्थित हैं।

यहाँ, अर्थात् चित्राद्वैतप्रकाश के संदर्भ में, मतवैभिन्न्य के विकल्प ये हैं कि क्या चित्रता में, विज्ञान में अथवा सर्वत्र ही अद्वैत है?

यह, अर्थात् अद्वैत, चित्रता (अनेकता) के स्वरूप का अनुसरण करने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि तन्मात्र (चिन्मात्र, विशुद्ध विज्ञानमात्र अद्वैतरूप है यह तथ्य) सर्वज्ञ (सर्वज्ञों, जैसे कि बोधिसत्त्वों अथवा भगवान बुद्ध) के अनुभव से सिद्ध है। यदि ऐसा नहीं माना जाय, तो शशश्रृंग की भाँति 'यह जड़ है, अलीक है अथवा विज्ञान है' इस प्रकार के मतवैभिन्न्य के लिए अनवकाश का प्रसंग उपस्थित होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञानत्व के प्रसंग में भी विवाद उचित नहीं, क्योंकि "सहोपलंभ–नियमाद् ...."[4] इत्यादि के द्वारा पहले ही विज्ञान की साकारता प्रसाधित की जा चुकी है। अतएव 'सर्वत्र अद्वैत है' यह तीसरी विप्रतिपत्ति भी असंगत है, क्योंकि साकारविज्ञान के सिद्ध होने पर ही चित्राद्वैतवाद की स्थिति संभव होती है। उपर्युक्त कारणवश 'यह चित्रता अद्वैत की विरोधिनी है' इस व्यामोह के चलते 'एकत्व' के विषय में ही मतवैभिन्न्य है, ऐसा फलित हुआ। अतः 'साकारविज्ञान चित्राद्वैतरूप है' अपने इस पक्ष को प्रसाधित करने वाले इस निम्नांकित साधन (अनुमानप्रयोग) को प्रस्तुत कर रहे हैं –

"जो प्रकाशित होता है वह एक (अद्वैत, न कि अनेक अथवा दो) होता है: जैसे, चित्राकारचक्र के मध्य में रहने वाला नीलाकार।

यह गौर, गान्धार, सुरभि, मधुर, सुकुमार, श्वेत– श्याम/सुख–दुःखादि रूप चित्राकारचक्र प्रकाशित है।" यह 'स्वभाव हेतु'[5] है, [अतः चित्राकारचक्र (चित्र) एक (अद्वैतरूप) है।]

उपर्युक्त अनुमानप्रयोग के 'स्वभावहेतु' में असिद्धता की उद्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा इसकी सत्ता के सिद्ध होने से विज्ञानस्वरूप नीलादि आकारचक्ररूप धर्मी में प्रकाशरूपता प्रत्यक्षतः सिद्ध है। इसमें विरुद्धहेतुदोष भी संभव नहीं, क्योंकि विविधाकार के मध्य में वर्तने वाले नीलाकार रूप दृष्टान्तधर्मी में प्रकाशमानता लक्षण वाला हेतु दृष्ट है।

आशंका – जब एकत्व ही साध्य हो, तो एकत्व का जो अन्य (चित्र से अन्य) अधिकरण है उसे ही यहाँ पर दृष्टान्त बनाना उचित है।[6] किन्तु इस नीलाकार की एकता तो है नहीं, क्योंकि [चित्राकारचक्र में] विरुद्धधर्माध्यास–रूप अनेकता का होना संभव है। देश, काल अथवा आकार का भेद ही विरुद्धधर्म का अध्यास है। अतः जिसप्रकार आकारतः भेद से विचित्राकारचक्र का भेद होता है, उसीप्रकार देशभेदतः नीलाकार का भी भेद होगा। इसप्रकार आपके द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त साध्यशून्य है। आपके द्वारा प्रस्तुत हेतु विपक्ष में भी परिदृश्यमान है और यदि उसे वहाँ पर नियत माना जाय, तो वह विरुद्धहेतु हुआ। यदि कहा जाय कि वहाँ पर भी वह संभव है, तो हेतु अनैकान्तिक हो जायगा।

समाधान – यदि देशभेदतः विज्ञानात्मक स्थूलनीलाकार का भेद होता है [ऐसा माना जाय], तो इसके प्रत्येक परमाणु में देशभेद होने पर भेद के संभव होने से, विज्ञानात्मक स्थूलनीलाकार का स्वरूप परमाणुओं के ढेर या समूहमात्र के रूप में होगा। वैसी स्थिति में जितने भी विज्ञानात्मक नीलपरमाणु हैं वे अपने–अपने स्वरूप में निमग्न रहेंगे। परिणामतः विश्वव्यापी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अंधकार में निमग्न अनेक पुरुषों की भाँति उनमें भी अन्य के द्वारा अन्य के वेदन (व्यतिवेदन या परस्परसंवित्ति) का अभाव होगा और फलतः स्थूलनील का समग्रतः प्रतिभास (अखण्डलक प्रतिभास) नहीं होने का प्रसंग उपस्थित होगा। [पुनश्च], अपने स्वरूप में निमग्न रहते हुए भी अन्य के द्वारा अन्य की वेदना होने को युक्तिसंगत नहीं माना जाता, क्योंकि [प्रतिभास होने के] पहले से ही [विज्ञान में] ग्राह्यग्राहकलक्षणरूप कर्त्तव्यता को अनुचित माना जाता है। ऐसी स्थिति में स्थूलाभास की युक्तिसंगतता संभव नहीं [क्योंकि अपने स्वरूप में निमग्न रहते हुए भी व्यतिवेदन होने की युक्तिसंगतता पर स्थूलाभास की युक्तिसंगतता निर्भर करती है]। ऐसा भी कहना या मानना युक्तिसंगत नहीं कि परमाणुओं के अपने स्वरूप में निमग्न होने पर भी 'एक उपादानतया पुंजीभूत स्वरूप ही स्थूल है और वह अपने स्वरूप को जानता है'। कारण यह है कि एक उपादानता के होने पर भी अपने स्वरूप की निमग्नता के कारण ही [परमाणुओं का] स्थूलव्यवस्थापक होने अथवा अन्योन्यग्राह्यग्राहकभाव वाला होने के साथ योग नहीं है, क्योंकि ये दोनों बातें [स्वरूपनिमग्नता] से भिन्नस्वभाव वाली हैं। यदि परमाणुओं में तादात्म्य माना जाय, तो अन्य के द्वारा अन्य के वेदन का अभ्युपगम ही अशक्य है।

आप विज्ञानवादी तो 'वर्ग वर्ग को जानता है' ऐसा कहते हैं। रत्नकीर्ति कहते हैं कि आगे इसका उत्तर देंगे।

[यह द्रष्टव्य है कि] जिसप्रकार से बाह्यार्थवाद में, कोई अन्य गति (उपाय) न होने के कारण, बाह्यपरमाणु के प्रचय के प्रतिभास की व्यवस्था स्थूल–एकाकार–ज्ञानप्रतिभास में ही की जाती है, उसीप्रकार ज्ञानपरमाणुओं के प्रचय की व्यवस्था नहीं की जाती, क्योंकि साकारविज्ञानवाद में व्यवस्थापक और स्थूल–एकाकार से युक्त विज्ञानान्तर को स्वीकार नहीं किया जाता। कारण यह है कि [व्यवस्थापक और स्थूल–एकाकार से युक्त विज्ञानान्तर को] स्वीकार करने पर उसे ही दृष्टान्त बनना पड़ेगा। अतः जब तक जितने भी प्रतिभास हैं तब तक उतने प्रतिभास स्थूलतया ही व्याप्त हैं, क्योंकि अस्थूल परमाणुओं के प्रतिभास का और जिनके स्थूलता की निवृत्तिमात्र हुई है ऐसी वस्तुओं के प्रतिभास का दृश्यानुपलंभ से बाध हो जाता है।

[अतः] जिस प्रकार प्रसिद्ध अनुमान[7] में सत्त्व क्षणिकत्व से व्याप्त है और क्रमाक्रमकारित्व से भी और क्षणिकत्व के अभाव के कारण क्रमाक्रम की निवृत्ति हो जाने पर [सत्त्व भी] निवर्तमान हो जाता है, [जिससे] यह सिद्ध होता है कि [सत्त्व] क्षणिकत्वनियत है, उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रकाशमानत्व रूप साधन एकत्व से भी व्याप्त है और स्थौल्य से भी और एकत्व का अभाव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होने से परमाणुपुंजात्मक तथा जिसके एकत्व की निवृत्तिमात्र हुई है ऐसे स्वरूप वाले विपक्ष के कारण [होने वाले] स्वविरुद्धोपलंभ के चलते व्यापक स्थौल्य की निवृत्ति हो जाने पर प्रकाशमानत्व भी निवर्तमान हो जाता है जिससे यह सिद्ध होता है कि प्रकाशमानत्व एकत्वनियत है। अतः जिस प्रकार बहिर्व्याप्ति पक्ष में दृष्टान्तधर्मी घट में विपर्ययबाधकप्रमाणबल[8] के आधार पर 'सत्त्वक्षणिकत्वनियत है' यह निश्चय करके सत्त्व के कारण पक्ष में क्षणभंग की सिद्धि होती है, उसी प्रकार यहाँ पर भी दृष्टान्तधर्मी नीलाकार में विपर्ययबाधक–प्रमाणबल के ही आधार पर 'प्रकाशमानत्व एकत्वनियत है', ऐसा जानकर प्रकाशमानता के कारण साध्यधर्मी विचित्राकारचक्र (नील–पीतादि विविध आकारवाले चित्रचक्र) में एकत्व की सिद्धि होती है। अतः हमारे पक्ष में न तो साध्यशून्यता का दोष है, न तो विरुद्धहेतुता का और न अनैकान्तिकता का ही।

आशंका – एकत्व के साध्य होने पर उसका प्रच्युतिरूप हुआ 'द्वित्व' और यह 'द्वित्व' साध्य (एकत्व) का विपक्ष भी हुआ। यहाँ हमारा प्रश्न है कि विपक्ष से हेतु के व्यतिरेक की प्रतिपत्ति के समय विपक्ष के स्वरूप का ज्ञान होता है या नहीं ? यदि उसका प्रतिभास मानोगे, तो प्रकाशमानत्वरूप हेतु में 'साधारण– अनैकान्तिकता' का दोष होगा, क्योंकि हेतु विपक्ष में भी दृष्ट है। यदि उसका ज्ञान नहीं होता है, तो 'संदिग्धव्यतिरेकिता' का दोष होगा, क्योंकि [वहाँ पर] व्यतिरेक क्यों कर है इसका ही निश्चयात्मक (संदेहरहित) ज्ञान नहीं है। ऐसी स्थिति में साध्यसिद्धि की प्रत्याशा कैसे की जा सकती है?

समाधान – इस प्रसंग में 'ग्राह्य' और 'अध्यवसेय' ये द्विविध विषय [हमें मान्य] हैं। प्रतिभासमान विषय ग्राह्य [कहा जाता] है और अगृहीत होने पर भी जो प्रवृत्ति का विषय होता है वह अध्यवसेय [कहा जाता] है। वहाँ पर (ग्राह्य और अध्यवसेय विषय के प्रसंग में) अनुमाता जो कि असर्वज्ञ होता है [और] चूँकि उसे संपूर्ण विपक्ष [के उदाहरणों] का प्रतिभास नहीं होता, अतः ग्राह्यतया विपक्ष का कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब सभी प्रकार के अनुमानों के उच्छेद का प्रसंग उपस्थित होगा और साथ ही सर्वत्र विपक्ष [के उदाहरणों] के प्रतिभास का अभाव होने के कारण व्यतिरेक की भी असिद्धि हो जायगी। यदि प्रतिभास माना जाय, तो देश, काल और स्वभाव से अन्तरित (भिन्न) संपूर्ण विपक्ष [के उदाहरणों] का साक्षात्कार होने से यह फलित होगा कि साध्य का स्वरूप सुतरां (बखूबी) प्रतीत होता है और इससे अनुमान का वैयर्थ्य आपतित होगा। उपर्युक्त कारण से प्रतिभास न होने पर भी अध्यवसायसिद्ध होने के कारण ही विपक्ष से धूमादि [हेतु] का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

व्यतिरेक निश्चित हो जाता है। अतः यहाँ पर विपक्ष के प्रतिभास का निवेदन किस लिए किया जा रहा है? पुनः, यदि विष्य का अध्यवसाय भी नहीं होता, तो पूर्वनिर्धारित विषयव्यवहार का अभाव होने के कारण यह कहना युक्त होता कि [विपक्ष के साथ हेतु का] व्यतिरेक ही निश्चित नहीं हो पा रहा है।

आशंका – हमारे मत में वस्तु और अवस्तु स्वरूप वाले जितने भी विपक्ष [के उदाहरण] हैं उनकी प्रतिपत्ति चूँकि संभव है, अतः हेतु के व्यतिरेक का यथार्थज्ञान शक्य ही है। [हमारे यहाँ] प्रतिभासमात्र से सत्त्व नहीं माना जाता, अपितु अर्थक्रियाकारित्व को सत्त्व का लक्षण माना जाता है। आप (चित्राद्वैतवादियों) के मत में प्रकाश (प्रतिभास) ही वस्तुता है। ऐसी स्थिति में एकत्व और उसके प्रच्युतिरूप द्वित्व इन दोनों विरोधियों का प्रतिभास होने से प्रकाशमानत्व रूप हेतु में विपक्षसाधारणता [के दोष की प्रसक्ति] होगी। अप्रतिभास मानने की स्थिति में 'संदिग्धव्यतिरेकिता' का दोष होगा। इस प्रकार पूर्वपक्ष से उठाये गये प्रश्न आपके लिये दुरुद्धर[9] ही हैं।

समाधान – आप विरोधियों का पक्ष असंगत है। अबह्नि आदि विपक्ष से व्यावृत्त होने से धूमादि अग्न्यादिनियत है यह सिद्ध होता है और उसका निर्भास वस्त्वात्मक एवं अवस्त्वात्मक संपूर्ण विपक्षपदार्थराशिओं में स्वरूपतः होता है यह भी [सिद्ध] है, तो वह निर्विकल्पज्ञान में है अथवा कल्पनाज्ञान में इससे क्या? यदि [विपक्षी स्वरूपनिर्भास को] निर्विकल्पकज्ञान में माने [कल्पनाज्ञान में नहीं], तो वे बतायें कि [उनके लिए] प्रतिभास का क्या अर्थ है? क्या निराकारज्ञान में सम्पूर्ण विपक्षों के स्वरूप का साक्षात् स्फुरण होना, अथवा उसमें अर्पित बुद्धि के जो स्वभावभूत आकार हैं उनके सदृश आकार का ज्ञान, अथवा समनन्तरप्रत्यय के बल से आयात बुद्धिगत बाह्यपदार्थ के सदृशआकार का प्रतिभास, अथवा बुद्धि के आत्मभूत विपक्षसदृश अलीकआकार की परिस्फूर्ति आप विरोधियों को प्रतिभास के रूप में अभीष्ट है?

इसमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि देश, काल और स्वभाव से विप्रकृष्ट[10] पदार्थों का पृथग्जन और निराकारज्ञान के साथ स्फुरण का योग नहीं होता, इस अभिप्राय को शास्त्र (साकारसिद्धिशास्त्र) में विस्तार से प्रसाधित किया गया है। वहाँ यह भी प्रतिपादित किया गया है कि यदि स्फुरण होने की बात को स्वीकार किया जाय, तो जो साध्य नहीं है, उसके प्रकाशन को स्वीकार करना होगा और इससे अनुमान व्यर्थ (अनुपयोगी) हो जायगा।

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो देशादितः विप्रकृष्ट होते हैं उनमें साक्षात् रूप से स्वाकार को अर्पित करने का सामर्थ्य नहीं होता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तृतीय पक्ष भी न्यायसंगत नहीं, क्योंकि सादृश्य के संभव होने पर भी केवल समनन्तरप्रत्यय के बल से आयात [इस प्रतिभास सादृश्य] की बाह्य अर्थ के साथ प्रत्यासत्ति नहीं होती।

चतुर्थ विकल्प भी संभव नहीं, क्योंकि [प्रथमतः] असत् तथा प्रकाश में विरोध है और [द्वितीयतः] स्फुरित होने एवं अलीक होने में भी योग नहीं है। जैसे कि, 'असत् का प्रकाश है' इस उक्ति से 'असत् ईश्वर का ज्ञान है', अथवा 'भासमान आकार असत् है' अथवा '[भासमान आकार] सत् है फिर भी किसी को इसका ज्ञान नहीं है' इत्यादि में से आपको क्या विवक्षित है? यहाँ (उपर्युक्त विकल्पों में) जिस पदार्थ का स्वरूपनिर्भास हो रहा है, भला उसका किसी प्राणधारी के द्वारा 'यह असत् है' इस रूप में अभिधान कैसे किया जा सकता है? पुनश्च, स्फुरित हो रहा केशोण्डुक का आकार यद्यपि बाह्यरूपतया बाधयोग्य है, तथापि ज्ञानरूपतया उसका अर्थत्व है[11] इस तथ्य का प्रतिपादन आचार्य धर्मकीर्ति ने इस कारण किया है कि ऐसा करने से ग्राहकाभिमत निराकारज्ञान के अनस्तित्व का भी कथन हो जाता है।

आशंका – प्रतिभास होने पर भी बाधित होने के कारण असत्यता संभव है।

समाधान – बाधक कौन है, प्रत्यक्ष अथवा अनुमान? यदि एक स्थान पर स्वरूपसाक्षात्कारी प्रत्यक्ष [की सत्यता] पर अविश्वास किया जाता है, तो बाधक के होने पर अन्यत्र प्रत्यक्ष की स्वरूपप्रकाशरूप सत्यता पर आश्वस्त कैसे हुआ जा सकता है? अनुमान तो प्रत्यक्षपूर्वक होता है, अतः वह तो और भी अविश्वास का पात्र होगा। उसके प्रसंग में बाधकवार्ता की भी आवश्यकता नहीं।

गुरु [ज्ञानश्रीमित्र भी] कहते हैं– "जिसका स्वरूपतः निर्भास होता है वह ही असत् कैसे हो सकता है? यदि बाधा के कारण उसकी असत्यता मानी जाय, तो प्रश्न है कि प्रत्यक्ष और अनुमान में किसके द्वारा बाधा होती है? यदि एक स्थान पर प्रत्यक्ष [की सत्यता] पर अविश्वास किया जाय, तो अन्यत्र भी विश्वास नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षपूर्वक होने वाला अनुमान आश्वासगोचर कैसे हो सकता है?[12]

आशंका – द्विचन्द्रादि का प्रतिभास होने पर भी उसका बाधित होना दृष्ट ही है।[13] यदि [इसे] दृष्ट न माना जाय, तो उसकी अनुपपन्नता [घटित] होगी कि वह ज्ञात होते हुए भी बाधित है।

समाधान – [उपर्युक्त आक्षेप] उचित नहीं, क्योंकि बाधयोग्य का प्रतिभासन नहीं होता [और] प्रतिभासिन् की अबाध्यता होती है। ज्ञानश्रीमित्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कहते भी हैं– "बुद्ध्याकार (ज्ञानाकार) का निर्भास होता है, बाधा तो बाह्यवस्तु की होती है। स्फुरित हो रहे पर भी यदि अविश्वास किया जाय, तो फिर कहाँ विश्वास होगा"[14]? इससे [ज्ञान में] जो भासित हो रहा है वह, अर्थात् आकार, असत् है ऐसा जो द्वितीय पक्ष विरोधी का था वह भी निराकृत हो गया, क्योंकि प्रतिभास के कारण सत्ता की सिद्धि होने से बाधक के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

उसी प्रकार तृतीय विकल्प भी कि '[भासमान आकार] सत् है, तथापि किसी को इसका ज्ञान नहीं है', अयुक्त है, क्योंकि सत्ता प्रकाश से व्याप्त होती है और अप्रकाश असत्ता से ग्रस्त होता है।

आशंका – आप साकारविज्ञानवादियों के अनुसार प्रकाश (प्रतिभास) वस्तु की सत्ता का साधकप्रमाण है। किन्तु प्रमाण की निवृत्ति हो जाने पर अर्थाभाव हो जाय ऐसा नहीं होता। [वस्तुतः] अर्थक्रियाशक्ति ही सत्त्व [का लक्षण] है। उसका (अर्थक्रियाशक्ति का) अप्रकाश के साथ विरोध भी नहीं है।

समाधान – [आपका] यह [कथन] सत्य है, क्योंकि बाह्यार्थवाद में हम भी अप्रकाश में सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं। [किन्तु] केशोण्डुकादि के प्रतिभास में जो अध्यवसित है उसकी अर्थक्रियाशक्ति के वियोगमात्र से [सत्ता] के अभाव की सिद्धि हो जाती है। जहाँ सर्वथा बाह्याभाव है वहाँ पर चूँकि प्रकाश (प्रतिभास) ज्ञान का अव्यभिचारी होता है इस कारण तत्क्षण ही उसके सत्त्व की सिद्धि हो जाती है, उसे अर्थक्रिया से क्या ?

[आचार्य ज्ञानश्रीमित्र ने] ऐसा कहा भी है कि 'सत्त्व या सत्ता का अपहरण अन्य के द्वारा कैसे हो सकता है? यदि इसका (आकार का) सत्त्व उसके प्रकाशित अथवा निर्भासित होने से भी न माना जाय [और अर्थक्रिया–शक्तिमात्र को सत्त्व का निकष घोषित किया जाय], तो हमारा कहना है कि अर्थक्रिया भी सभी के लिए नहीं होती (अर्थात् अर्थक्रिया जिस समय और जिस स्थान पर होती है उसी देश–काल में स्थित पुरुषों के लिए होती है, सभी के लिए नहीं)। ऐसी स्थिति में विरोधी यदि कहे कि हाँ, अर्थक्रिया कुछ लोगों के लिए ही होती है, तो क्या उस स्थिति में अर्थक्रिया का भासन नहीं होता?[15] [अतः स्पष्ट है कि] स्वसंवेदनसिद्ध स्वाकार के बिना निर्विकल्प में विपक्षादि स्फुरित नहीं होते हैं। विरोधी यह दूसरा पक्ष प्रस्तुत कर सकता है कि वे (विपक्षादि) विकल्प में भासित होते हैं। इस पक्ष में भी विपक्षादि का प्रतिभासमान आकार शब्द से संसृष्ट न होने से असाधारण है और स्वसंवेदन के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त कर लेने के कारण वस्तुसत् ही है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि यह आशंका प्रस्तुत की जाय कि विपक्षादि [उदाहरण] अध्यवसेयतया गृहीत होते हैं, तो हमारा प्रश्न है कि उस समय भी क्या उनके स्वरूप का निर्भास [होता] है अथवा नहीं? यदि उनका निर्भास है, तो [उसकी] प्रत्यक्षसिद्धता ही है, [अतः] उसकी असत्ख्याति सिद्ध नहीं। शास्त्र में भी स्वरूपसाक्षात्कारित्वमेव प्रत्यक्षत्वम्[16] ऐसा कहा गया है। आप [विरोधियों] के मत में तो इतरप्रत्यक्षों की ही भाँति विकल्प में भी स्वरूपसाक्षात्कारित्व को स्वीकार किया गया है, ऐसी स्थिति में विरुद्धव्याप्तोपलंभ के द्वारा विकल्प और भ्रान्तित्व को दूर हटा दिए जाने के कारण सविकल्प में भी प्रत्यक्षता अक्षत है। अतः जो तत्सिद्ध (प्रत्यक्षसिद्ध) है उसकी बाधा का अभिधान अन्य प्रत्यक्षों और अनुमान के द्वारा कैसे हो सकता है? क्योंकि उन (प्रत्यक्ष और अनुमान) दोनों में स्वरूपान्तर के प्रकाश का पौरुषत्व है।

यह शंका हो सकती है कि विकल्प और भ्रान्ति में 'व्यापकविरुद्ध' के संभव होने के कारण विकल्प में प्रत्यक्षत्व ही असंभव है। विरोधी कह सकता है कि विकल्प की प्रत्यक्षता को असंभव कहने का अर्थ होगा कि उसमें स्वरूपसाक्षात्कारित्व नहीं है। यदि यह कहा जाय कि विपक्षादि अर्थ इसमें प्रकाशित होते हैं, तो इस वचन से स्वरूपसाक्षात्कारित्व को ही कहा जाता है [जो कि] 'यह मेरी माता बन्ध्या है' इस वृत्तान्त जैसा है। आप (साकारविज्ञानवाद के) विरोधियों को यह अभीष्ट ही है कि विकल्प विपक्षादि के स्वरूप का साक्षात्कार करने वाला होता है और इससे प्रत्यक्ष के स्वरूप का अतिक्रमण नहीं होता, क्योंकि अप्रत्यक्षता का वस्तु के स्फुरण के साथ योग नहीं है। अतः उसके प्रतिभासित हो रहे रूप का भी ज्ञान सत् ही है, उसकी असत्ख्याति नहीं है। [पुनश्च,] विकल्प में स्फुरित हो रहा रूप असत् होते हुए ईश्वरादि का स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि असत्त्व का ही अभाव होता है, ख्साथ ही, स्वरूप का स्फुरण होने पर भी उसका असत्त्व हो और वह अन्यत्र भी प्रकाशित हो इसके विषय में आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता।

अतः साकारवाद ख्के विषय, में जो जल्पना की गयी है कि "नित्यादयः सन्त एव स्युः"[17] वह स्वरूप से ही पतित है। गुरु ज्ञानश्रीमित्र का कथन है–"स्वरूपसाक्षात्कार के कारण प्रत्यक्षता ही होती है, उससे अन्य नहीं। अतएव, विकल्प और भ्रम की भूमि (कल्पना) ही बाधित है। यदि उसकी अध्यक्षता नहीं, तो उसका स्वरूपनिर्भास भी नहीं। अतः 'असत् ईशादि का प्रतिभास होता है' ऐसा कहना असंगत है। यदि उसका प्रतिभास होता है, तो इसका ख्प्रतिभासित हो रहा, वह रूप सत् ही है। वह असत् है ख्और, प्रतिभासित भी होता है, ऐसा कहने का अर्थ है कि वह प्रकाशित है, आप लोग ही असत् हैं।[18]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आशंका – [आप विज्ञानवादी] कहते हैं कि अध्यवसाय में अध्यवसेय के स्वरूप का प्रतिभास नहीं है। उस समय किसी का भी अध्यवसाय नहीं होता। अतः [तब] प्रतिनियत वस्तुव्यवस्था की सिद्धि कैसे हो सकती है?

समाधान – [आप के लिए] अध्यवसाय क्या है? क्या व्यावृत्तिभेद से परिकल्पित प्रकाशांश का स्फुरण, स्वाकारांश का स्फुरण, अलीक आकार का स्फुरण, बाह्यवस्तु का स्फुरण अथवा अवस्तु का स्फुरण अध्यवसाय का अर्थ है? अथवा आप स्वाकार में बाह्य के आरोपण को, बाह्य में स्वाकार के आरोपण को, बाह्य और स्वाकार इन दोनों की योजना को, उन दोनों के एकीकरण [के परिणामस्वरूप आपतित] एक प्रतिपत्ति के अभेदतया होने वाली प्रतिपत्ति को अथवा भेद के अग्रहण को अध्यवसाय समझते हैं?

इनमें प्रथम पक्ष कल्पनाक्षम नहीं है, क्योंकि [ज्ञान की] सभी [अवस्थाओं] का स्वरूप में स्फुरण निर्विकल्पक होता है, अतः उस स्थिति में अवसाय के अनुपपन्न होने का प्रसंग उपस्थित होगा।

'अलीक आकार का स्फुरण अध्यवसाय है' इस विकल्प का पहले ही निराकरण किया जा चुका है। स्फुरण होने पर अस्फुट होते हुए भी द्विचन्द्रादिज्ञान की भाँति यह निर्विकल्पक है। [यहाँ यह कहा जा सकता है कि] स्वग्राह्य के रूप में वह भले ही निर्विकल्पक हो, परन्तु बाह्य जगत् में अध्यवसेय होने पर [निर्विकल्पक रूप नहीं, अपितु] अध्यवसाय [रूप] ही है। [किन्तु यह पक्ष] स्वग्राह्य का अध्यवसेय के साथ सम्बन्ध नहीं होने और अध्यवसेय का प्रतिभास भी नहीं होने से उचित नहीं। अन्य प्रकार से व्याख्या करने पर अतिप्रसंगदोष होगा। यदि बाह्यवस्तु के स्वरूप के स्फुरण को अध्यवसाय समझा जाय, तो यह तो प्रत्यक्ष की ही प्रतिपत्ति हुई, यह अध्यवसाय कहाँ से हुआ? अवस्तुस्फुरण वाले पक्ष का त्रिधा विकल्प में विभाग कर पहले ही निराकरण किया जा चुका है।

स्वाकार में बाह्य का आरोपण तो संभव ही नहीं है। किसी प्रकार के आकार के साथ, वह सत्य हो अथवा अलीक, उपजात [स्थिति या अवस्था] का नाम ज्ञान है। [ऐसी स्थिति में] तदाकार (स्वाकार) में बाह्य का आरोपण या तो तत्कृत (स्वाकारकृत) होगा या अन्यकृत (स्वाकार से अन्य के द्वारा कृत)। तत्कृत होने की स्थिति में वह उसी काल में ही अन्य व्यापार का अनुभव नहीं कर सकता, तो फिर बाह्य का आरोपण कैसे होगा? यदि यह उत्तर दिया जाय कि कालान्तर में होगा, तो कालान्तर में तो वह स्वयं असत् है, अतः किसका व्यापार होगा?[19]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

द्वितीय पक्ष में भी आकारारोप रूप राग (वासना) की संगिनी उत्पत्ति के बिना व्यापारान्तर के द्वारा अन्य ज्ञान भी, कहीं भी कुछ भी करने में समर्थ नहीं है (अर्थात् द्वितीय ज्ञान भी आकारारोप वासनायुक्त उत्पत्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकता।) अतः यह पूर्वज्ञान के सदृश आकार को जब विषय बनाता है, तो उस अवस्था में भी बाह्याकार के अंश मात्र का अनुसरण करने के अतिरिक्त बाह्यारोप रूप किसी अन्य व्यापार को स्पर्श नहीं करता है। पुनश्च, शब्दामुखीकरण कोई अन्यव्यापार भी नहीं है, क्योंकि शब्दाकारता का भी स्वरूप में ही अन्तर्भाव है। अतः आकार से अन्य ज्ञान का व्यापार नहीं होता। [प्रस्तुत संदर्भ में] आरोप्यमाण यह अर्थ बाह्य है।[20] वहाँ पर ज्ञान में यदि उसका स्वरूपेण स्फुरण हो रहा है, तो वह सत्यप्रतीति है, अतः आरोप कहाँ? यदि वह वहाँ स्फुरित नहीं हो रहा है, तो उस रूप में भी आरोप कहाँ? पुनश्च, स्फुरण होने की स्थिति में अधिकरणभूत स्वाकार के अतिरिक्त आरोप्यमाण आकार के प्रतिभास का भी प्रसंग उपस्थित होगा।

यदि कहा जाय कि तदाकार (ज्ञानाकार) का स्फुरण ही उसका (बाह्याकार का) स्फुरण है, तो यह संभव नहीं, क्योंकि वह आरोप्यविषय है। मरीचिका का ही स्फुरण जल का स्फुरण नहीं है। अतः स्वाकार में बाह्यारोप संभव नहीं। बाह्य में स्वाकार का आरोप भी संभव नहीं है, क्योंकि आरोपविषय का बाह्यविषय में स्फुरण नहीं होता। इसी कारण स्वाकार और बाह्य इन दोनों में योजना भी असंभव है, क्योंकि दोनों योग्यों (बाह्य और स्वाकार की योजना करने की योग्यता रखने वालों) का हमें प्रतिभास नहीं होता। पुनश्च, एकीकरण ही अध्यवसाय नहीं है। प्रश्न है कि एकीकरण का अर्थ क्या है? यदि एकतापत्ति एकीकरण की प्रयोजकता हो, तो वह असंभव है, क्योंकि आरोप और आरोप्य विषय में कदाचिद् एकीभाव का अभाव होता है। शशविषाण का कोई कारण नहीं होता। पूर्व में अनेक [किन्तु] सांप्रत काल में वह एकता की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, ऐसा क्षणिकवादी नहीं मानते। यदि कहा जाय कि एकीकरण अर्थान्तर की उत्पत्ति मात्र है, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि स्वाकार रूप आरोपविषय अन्यत्र उस ज्ञान का गोचर नहीं होता, साथ ही उस समय अर्थ का कुछ भी अंश [वहाँ] नहीं रहता, अतः एकीकरण कैसे संभव होगा?[21]

विरोध पक्ष कह सकता है कि 'एक प्रतीति ही अध्यवसाय है'। वैसी स्थिति में भी उन दोनों (आरोपविषय और स्वाकार) की एकप्रतिपत्ति तो होती नहीं, क्योंकि वहाँ अध्यवसेय के अनुभव का अभाव रहता है। पुनश्च, दोनों की प्रतीति ही अध्यवसाय नहीं है; जैसे कि, नील और पीत की प्रतीति मात्र अध्यवसाय नहीं है।[22]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अभेदतः होने वाली प्रतीति भी अध्यवसाय नहीं है, क्योंकि [अभेद के] पर्युदास के रूप में उसको ऐक्यप्रतीति कहा जाता है। [पुनश्च], 'अध्यवसेय की प्रतिपत्ति न होने के कारण' इसके द्वारा पहले ही इसका उत्तर दिया जा चुका है। यदि 'भेदेन प्रतीतिरध्यवसायः' के आलोक में इसे लें, तो इसका अर्थ होगा 'प्रतीति का निषेध मात्र', [फलतः] इस रूप में भी इससे 'बाह्य की प्रतीति' रूप अभिप्राय की सिद्धि नहीं हो पाती, तो यह अध्यवसाय कहाँ से सिद्ध होगा? यदि बाह्य प्रकाशित होता, तो एकत्वेन, अनेकत्वेन, सत् अथवा असत् प्रतीति होने की बात युक्त होती।[23]

जितने भी आकार हैं उनके तिरस्कार से जो प्रतीति होती है वह एक प्रतीति है, यदि ऐसा कहा जाय, तो सर्वाकार के स्वरूप का तिरस्कार हो जाने पर एकप्रतीति का प्रतिभासन ही नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि सर्वाकार के स्वरूप के किसी अंश का प्रतिभासन होने से एकप्रतीति होगी, तो ऐसा भी संभव नहीं, क्योंकि वस्तु निरंश होती है, अतः वस्तु का या तो सर्वात्मना प्रतिभास होगा या सर्वात्मना अप्रतिभास।[24] शास्त्र में ही कहे गये इस तथ्य की यहाँ विस्तार से परीक्षा की गयी है।

भेद के अग्रहण को भी अध्यवसाय नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रश्न उठेगा कि अग्रहण गृह्यमाणबाह्य में होता है अथवा अगृह्यमाणबाह्य में ? प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि बाह्य के ग्रहण का निराकरण किया जा चुका है। पुनश्च, बाह्य का ग्रहण मानने पर अध्यवसाय की प्रत्यक्षता का प्रसंग उपस्थित होगा। [द्वितीय पक्ष अर्थात्] अगृह्यमाणबाह्य में प्रवृत्तिनियम नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य [पुरुषों] में भी उसी समय अग्रहण के कारण अन्यत्र भी प्रवृत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा।

आचार्य त्रिलोचन भी अध्यवसाय पर इस प्रकार दोष लगाते हैं। यह अध्यवसाय क्या है? क्या यह ग्रहण है, करण है, योग्यता है अथवा समारोप है? उपर्युक्त विकल्पों में अनर्थरूप अर्थ को स्वाभास कैसे ग्रहण करेगा, अथवा विकल्प कैसे बना देगा? नील पीत को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है और कुशल शिल्प से भी नील को पीत नहीं बनाया जा सकता। न तो विकल्प स्वाकार को अगृहीतस्वलक्षण से योजित करने में ही समर्थ है। पुनश्च, न तो स्वलक्षण विकल्प के ग्रहण का विषय है और न तो स्वाकार अनर्थ को अर्थ पर आरोपित करता है। स्वाकार जबतक अगृहीत है तबतक वह आरोपण नहीं कर सकता, अतः आरोपणार्थ स्वाकार का ग्रहण अभीष्ट है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठेगा कि क्या विकल्प पहले ग्रहण करता है तदनन्तर आरोपण करता है, अथवा जिस समय स्वाकार को ग्रहण करता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

 Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उसी समय आरोपण भी करता है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि क्षणिकविकल्पविज्ञान क्रम से ग्रहण और आरोप इन दोनों को करने में समर्थ नहीं है। द्वितीय पक्ष में, अहंकारास्पद और विकल्पाकार स्वगोचर, समारोप्यमाण अनहंकारास्पद एवं अविकल्पक स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से अभिन्न है, इस तथ्य की प्रतिपत्ति विकल्प के द्वारा अशक्य है। इस अभिन्नता की प्रतिपत्ति बाह्यस्वलक्षणकत्व के द्वारा भी नहीं हो सकती, क्योंकि विकल्पाकार में बाह्यस्वलक्षण का प्रतिभास नहीं होता।

वाचस्पति भी अध्यवसाय का निराकरण करते हैं। [विरोध पक्ष से] यह कहा जा सकता है कि [विकल्प द्वारा] अनर्थ को स्वाभास अर्थ के रूप में अध्यवसित किया जाता है। प्रश्न है कि 'यह आरोपित करता है' जब आप ऐसा कहते हैं, तो क्या समारोप विकल्प का स्वरूपानुभव ही है, अथवा स्वरूपानुभव से विलग कोई इतरव्यापार? इनमें प्रथम विकल्प युक्त नहीं है, क्योंकि क्रमशः अविकल्पक और सविकल्पक स्वरूप होने से अनुभव और समारोप में, द्रव और काठिन्यवत् तादात्म्यभाव अनुपपन्न है। अन्य व्यापार वाले विकल्प में यह प्रश्न उठता है कि यह क्रम से होता है या समानकालतारूप में? क्रम से नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिकविज्ञान क्रमिकरूप से व्यापार नहीं करता। अक्षणिकवादियों के यहाँ भी क्रमिकरूप से व्यापार होना अशक्य है, क्योंकि [वहाँ भी] बुद्धि और कर्म का रुक कर व्यापार करना अनुपपन्न है। यदि विरोधी कहे कि अनुभव और समारोप समानकाल में हो सकते हैं, तो [हमारा कहना है कि] समानकालता ही हो। आत्मा स्वभाव में स्थित होते हुए ही वेद्य है; [किन्तु] परभावेन उसका वेदन मानने पर स्वरूपवेदन अनुपपन्न हो जायेगा। आत्मा ज्ञान के ग्राह्य और ग्राहक आकार को अनुभूत करता है और अर्थ समारोपित होता है। आत्मा वेद्यमान रूप में समारोपित नहीं होता और न तो अर्थ आरोप्यमाणरूप में प्रत्यक्षवेद्य है। वह समरोप, सत् हो अथवा असत्, ग्रहण ही है। ज्ञानेतर का ग्रहण संभव नहीं, इसका प्रतिपादन हो चुका है।

पूर्वपक्ष – बाह्य से स्वप्रतिभास के भेद का अग्रहण ही बाह्य का [विज्ञान पर] समारोप है और उससे बाह्य में वृत्ति होती है।

उत्तरपक्ष – क्या वह (समारोप) गृह्यमाणबाह्य में है अथवा नहीं? गृह्यमाणबाह्य में वह हो नहीं सकता, क्योंकि पहले ही हम कह आये हैं कि गृह्यमाण में समारोप का ग्रहण संभव नहीं। अगृह्यमाणबाह्य में समारोप को मानने पर भेद का ग्रहण नहीं होगा, फलतः प्रवृत्तिनियम नहीं हो सकेगा और परिणाम यह होगा कि भेदाग्रह के कारण उसी समय अन्यत्र अन्य लोगों की प्रवृत्ति होने का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः जैसे–जैसे इस अध्यवसाय पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचार किया जाता है, वैसे–वैसे यह खण्ड–खण्ड हो जाता है। उसी प्रकार शब्दप्रवृत्ति के निमित्त में भेद होने[25] पर भी विकल्प, आरोप, अभिमान, ग्रह, निश्चय आदि अध्यवसाय की भाँति स्वाकार में परिणमित होकर ही स्फुरित होते हैं तथा बाह्य की वार्ता मात्र को भी नहीं जानते, अतः वे अध्यवसायस्वभाव वाले हैं, तो युक्ति और आगम से बहिर्भूत अनात्मस्फुरण को आपने कैसे कहा?

पूर्वपक्ष – उपर्युक्त स्थिति में विकल्पादि के असंभव हो जाने पर और अनात्मप्रकाशकत्व की अस्वीकृति के संभव होने पर भी सर्वजनप्रसिद्ध विधि और प्रतिषेध के व्यवहार का उच्छेद होगा, [फलतः] लोकविरोध होगा। [इतना ही नहीं] विकल्प, अध्यवसाय, आरोप, अभिमान, ग्रहण, निश्चय आदि का प्रतिपद पर शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है और बाह्यार्थ के अभ्युपगत होने पर वे सिद्ध भी हैं, अतः [उनको असिद्ध ठहराने पर] आचार्य (धर्मकीर्ति) के मत के विरोध की स्थिति उत्पन्न होगी और आपके दृष्टिकोण के कारण न्याय का भी विरोध होगा। उदाहरणार्थ, उस स्थिति में सभी ही प्रकार से[26] अविपरीत स्वरूप का संवेदन होगा, जिसके कारण भ्रान्ति का अत्यन्त (निःशेषरूप से) अभाव हो जायेगा। परिणामतः सभी सत्त्व सदैव सम्यक्सम्बुद्ध की अवस्था में रहेंगे।

यदि कहा जाय कि विकल्पिकाबुद्धि भ्रान्ति है, क्योंकि यह स्वप्रतिभास में (स्वाभास में) अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय करती है, तो प्रश्न है कि अवसीयमान होता हुआ विकल्पिकाबुद्धि के द्वारा वह अर्थ प्रकाशित क्यों नहीं होता? अथवा यदि वह प्रकाशमान है, तो सविकल्पकबुद्धि में कैसे प्रकाशित नहीं होता? यदि कहा जाय कि अर्थ सविकल्पकबुद्धि (भ्रान्ति) में प्रकाशित होता ही है, तो [उस स्थिति में] अर्थ [और सविकल्पक बुद्धि] का तादात्म्यप्रसंग उपस्थित होगा। [इतना ही नहीं, तब] अर्थ के न होने पर सविकल्पिका–बुद्धिरूप भ्रान्ति को भी नहीं होना चाहिए।[27] [और तब] मान्धाता हुए थे, शंख होंगे, आत्मा है, शब्द नित्य है, इत्यादि बातों का सर्वात्मना निश्चय होता [और] 'गाय है' इसका स्पष्टतः और अपने लक्षण (स्वलक्षण) के साथ ज्ञान होता। [किन्तु] स्वलक्षण [शब्द–] संकेत से योजित नहीं किया जा सकता, [अतः] 'गौरिति' सविकल्पक बुद्धि उसमें नहीं होनी चाहिए। उपर्युक्त कारण से आप चित्राद्वैतवादियों को यह अभीष्ट होना चाहिए कि व्यक्ति–विशेष गायों में समानरूप से प्राप्त गोत्व के द्वारा गोबुद्धि होती है जो कि विप्लववश (अनादिवासना के कारण) अलीकवाचकशब्द से संसृष्ट होकर उस रूप में प्रख्यात होती है और उसी रूप में प्रकाशमान होते हुए 'गाय' वस्तु के रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में उसका अवसाय होता है। ऐसा मानने पर सारे दोष नहीं होंगे, क्योंकि इस व्यवस्थानुसार अप्रतिभासी स्वलक्षण का भी भ्रान्ति के द्वारा भी अवसाय होना विश्लेषित हो जाता है।[28]

समाधान – ऊपर जो लोकविरोध और शास्त्रविरोध प्रदर्शित किया गया है वह नहीं होगा, क्योंकि स्वयूथ और परयूथ वादियों के लिए दुर्लंघनीय अध्यवसाय के स्वरूप के निर्वचन से बाह्य के अगृहीत होने पर भी प्रवृत्ति और निवृत्त्यादि का समर्थन होने के साथ ही न्यायविरोध का गंध भी नहीं रहता।

[उपर्युक्त प्रकरण को ही स्पष्ट करने हेतु रत्नकीर्ति पूछते हैं कि] 'असत्ख्याति रूप' और 'अतस्मिंस्तद्ग्रहो रूप' भ्रान्ति क्या है जिसके क्षय होने पर इसी समय ही (तत्काल ही) मुक्ति से आप जुड़ना चाहते हैं?

[उपर्युक्त भ्रान्ति के द्विविध प्रकारों में 'असत्ख्याति' रूप] प्रथम पक्ष [मान्य] नहीं, क्योंकि उसका [हमारे गुरु द्वारा पहले ही] खण्डन किया जा चुका है। ज्ञानश्रीमित्र ने कहा भी है – "यदि जिसके स्वरूप का निर्भास हो रहा है वह बाधक के कारण सत् नहीं हो, तो स्वरूपान्तरनिर्भासी बाधक में भी कैसे विश्वास किया जाय?" [फिर भी, आप असत्ख्यातिवादी] "यदि कहें कि [पूर्व बाध्यज्ञान] अन्य स्वरूप का उपनयन (विषयत्वेन ग्रहण) करता है इसलिए उसके स्वरूप का निवारण (बाध) हो जाता है, तो इस बाधकज्ञान का भी पूर्व ज्ञान बाधक हो जायगा जिससे इसमें भी बाध्यता का संशय आ जायगा"। [पुनश्च], "यदि [असत्ख्यातिवादी कहें कि] यह बाधा अक्षजज्ञान के अग्रहण में है, उससे अन्य नहीं, तो बाधा के पूर्व का स्वरूपनिर्भास ही रहे, क्योंकि अब आप जिस निर्भास की बात कर रहे हैं, वह पूर्व के स्वरूपनिर्भास के समान ही है"।[29] [अतः] "यदि आप स्वरूपनिर्भास में भी बाधक के संभव होने को मानेंगे, तो आपके पास इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है कि आगे भविष्य में इस उत्तरज्ञान में कोई अन्य बाधा नहीं होगी"।[30] [उपर्युक्त कारिकाओं में व्यक्त तथ्यों के आलोक में आचार्य ज्ञानश्री कहते हैं कि आप असत्ख्यातिवादी] "स्वरूप का निर्भास न होने" के कारण की खोज रूप विप्लव (परेशानी) से पहले से ही ग्रस्त हैं। यदि बाधशंका का विनिर्भास भी इसी रूप में मान लिया जाय, तो यह ख्आपके लिए, महानविप्लव (बड़े परेशानी, महान विकट परिस्थिति) की बात होगी।[31]

[अतस्मिंस्तद्ग्रहोभ्रमः रूप द्वितीय पक्ष के प्रसंग में रत्नकीर्ति कहते हैं] – शास्त्र में 'जो जिसमें नहीं है उसमें उसके ग्रहण के कारण', 'स्वप्रतिभास (स्वभास) में अनर्थ में अर्थ के अध्यवसाय के कारण, और 'दृश्य तथा विकल्प

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

के एकीकरण के कारण' भ्रान्ति होने को कहा गया है। इन लक्षणों का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाकर [ज्ञानश्रीमित्र] भ्रान्ति का स्वतन्त्र (अन्य से विलग, अपना)[32] लक्षण 'अलीकस्फुरणं भ्रान्तिः' के रूप में काव्य की रचना कर देते हैं और उसका [सविस्तर] विश्लेषण करते हैं।

आशंका – अपने आकार में पर्यवसित होने वाले ज्ञान से अतिरिक्त 'जो जिसमें नहीं है उसमें उसका ग्रहण' भी भ्रान्ति है। इस अवधारणा का भी अनेक लोगों ने अनेक प्रकार से विचार कर निराकरण किया है, तो [ऐसी स्थिति में] उस पक्ष में भी भ्रान्ति की हानि क्यों नहीं होती [और] उससे इदानीमेव मोक्ष का प्रसंग क्यों [उपस्थित] नहीं होता?

समाधान – [आचार्य रत्नकीर्ति मतविद्वेष रूपी विष से व्याकुल होकर आक्रोशित लोगों के आर्तनाद पर कृपा करने वाले प्रज्ञाकराचार्य को 'भगवत् भाष्यकारः' के विशेषण से सम्बोधित करते हुए समाधान के रूप में उनके 'अध्यवसाय'–विषयक अभिमत को इस प्रकार उद्धृत करते हैं।][33] – "समनन्तरप्रत्यय के बल से आयात स्वप्रतिभास (स्वभास) विशेष के स्ववेदनमात्र के कारण अगृहीत होने पर भी अन्यत्र प्रवृत्त्याक्षेप अध्यवसाय है।" यह लक्षण [विरोधियों के] पूर्वोक्त वाग्जाल से प्रतिहत भी नहीं हो सकता, क्योंकि [प्रथमतः] सभी प्राणधारी स्वसंवेदन की क्षमता वाले होते हैं और [द्वितीयतः] किसी के द्वारा पूर्व में इस [रहस्य] का प्रस्फुटन भी नहीं किया गया है। 'यह ही संसार है और उसका क्षय मोक्ष है' तो इदानीमेव मोक्ष की बात कहाँ से और क्यों कर? [वस्तुतः] विचित्र अनादि वासनाबल के कारण विशेष प्रबोध के प्रत्यय (कारणसामग्री) की अपेक्षा से विकल्प किसी आकार के साथ उत्पन्न होता हुआ ही बाह्यमुखी प्रवृत्ति के अनुकूल अर्थक्रिया के स्मरण और अभिलाषा[34] के प्रबन्ध (की संतति) को धारण करता है। अतः पुरुषार्थक्रिया के इच्छुक लोगों की प्रवृत्ति और निवृत्ति विषयक अवधारणा बाह्य अर्थ के अनुरूप होती है। साधारण लोगों के ज्ञानक्षण की संतान उसी प्रकार हेतुफलभाव से नियत होती है। जहाँ अर्थसम्बन्ध का विकल्पकाल अनिश्चित है वहाँ पर भी सत्ता और असत्ता सम्बन्धी निर्णय प्रवृत्ति के अनुसार आविर्भूत होते हैं। वहाँ पर इस प्रवृत्तिसाधनसामर्थ्य के उभयथा (शक्त और अशक्त) होने की जो बात कही गयी है वह स्वहेतुबल से आयात ही है और इसी प्रवृत्तिविषयत्वारोप को अध्यवसाय इस अन्य नाम से सम्बोधित किया जाता है। जिस प्रकार 'स्वविदपीयमर्थविदेव कार्यतो द्रष्टव्यः[35] (कार्यतः स्ववेदन भी अर्थवेदन ही है ऐसा समझना चाहिए) इस न्याय के कारण चन्द्रदर्शन के निश्चय का जनन ही चन्द्रज्ञान का ग्रहणव्यापार है, भले ही वह चन्द्रज्ञान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भ्रान्त हो अथवा अभ्रान्त, उसी प्रकार 'यहाँ पर अग्नि है' इत्यादि आकार के साथ उत्पन्न हो रहा विकल्प ही प्रवृत्त्यारोपतया बाह्यावसान कहा जाता है। जिस प्रकार निर्विकल्प द्विचन्द्रादि की आकारता ही उस प्रकार के अवसाय की साधिनी है, उसी प्रकार अवसाय की तादृशआकारता ही अन्य विषय के विमुखप्रवृत्ति की साधिनी है[36]।

आशंका – 'उस (उपर्युक्त) प्रकार से वह (स्वाकार) उसके द्वारा (अध्यवसेयतया) प्रतिपादित किया जाता है और उस ज्ञान (अध्यवसित ज्ञान) में वह प्रकाशित (प्रतिभासित) नहीं होता है' इस शपथ के द्वारा भी सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाता।

समाधान – आपकी आशंका असम्बद्ध है। बाह्य पटादि वस्तुओं, बाधक के आजाने के कारण क्षणिकादि पूर्वसंदिग्ध वस्तुओं और शशविषाणादि अवस्तुओं की, स्फुरण न होने पर मात्र अध्यवसाय होने के आधार पर, सिद्धिप्रतिबंध का प्रतिविधान ब्रह्मा के लिए भी शक्य नहीं। विषय–व्यवहार द्विविधि है– (1) प्रतिभास के कारण होने वाला और (2) अध्यवसाय के कारण होने वाला। यहाँ प्रतिभास का अभाव होने पर भी परापोढ़ (नामादि तथा अभिलापादि के संसर्ग से रहित) स्वलक्षणादि के अध्यवसाय मात्र को विषय कहा गया है, क्योंकि सर्वथा निर्विषयता की स्थिति में प्रवृत्ति और निवृत्ति सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवहारों के उच्छेद का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः 'उसके (अध्यवसाय मात्र के) द्वारा वह प्रतिपादित होता है, ज्ञान में उसका (बाह्यविषय का) प्रकाश नहीं है' ऐसा कहने में [तार्किक] संगति है ही, क्योंकि प्रकाश और प्रकाशक का भाव और अभाव होने पर भी अध्यवसाय और अध्यवसायकभाव के द्वारा भी विषयविषयीभाव की व्यवस्था करना तार्किक दृष्टि से संगत है।

आशंका – यदि अध्यवसेय की प्रतीति न मानी जाय, तो अगृहीत भी स्वलक्षणादि में प्रवृत्ति ख्याननी, होगी, [अतः] सर्वत्र ही समानरूप से (अविशेषेण) प्रवृत्ति की प्रसक्ति होगी, क्योंकि अगृहीतता के कारण सर्वत्र ही विशेष का अभाव रहेगा। इससे यह भी फलित होगा कि नियमपूर्वक अनभिमत की भी प्राप्ति होगी और अनुमान अनवस्थित हो जायगा।

समाधान – यदि अध्यवसेय अगृहीत है, तो इसका अर्थ हुआ कि संसार भी अगृहीत है; तथापि प्रवृत्ति नियतविषया ही होती है, सर्वत्र नहीं, क्योंकि विकल्प तथाभूत समनन्तरप्रत्यय से आयात नियतआकारतया नियतशक्तिवाला ही होता है। नियतशक्ति वाली वस्तुएँ प्रमाण से पूर्णतः सिद्धस्वभाव वाली होती हैं, शक्ति के घालमेल से होने वाली निन्दा की पात्र

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नहीं। जैसे कि, असत् से जब उत्पत्ति होती है, तो वहाँ सर्वत्र असत्त्व ही है, तो भी हम पाते हैं कि बीज से अंकुर की ही उत्पत्ति होती है, क्योंकि वहीं पर (बीज में) ही उसकी (अंकुर को उत्पन्न करने की) शक्ति का निरूपण प्रमाण द्वारा किया गया है। उसी प्रकार यहाँ पर भी दाहपाकादि अर्थक्रिया की इच्छा करने वाले अनलाकार विकल्प का स्मरण करते हुए प्रमाण से प्रतीत अनलविषयक ही प्रवृत्ति में सामर्थ्यवान हैं, [तो] यह स्थिति अतिप्रसंग की पात्र कैसे? प्रत्यासत्तिविचार के प्रसंग में तो तात्त्विक अग्नि और विकल्पोल्लिखित भी अग्नि में ज्वाजल्यमानता और भास्वराकारता होती है, तो वहाँ पर प्रवर्तन की शक्ति जवलनविकल्प में ही है, जलादि में नहीं।

प्रश्न – जब आप सादृश्य के समारोप की बात करते हैं, तो वहाँ आपका आशय स्वाकार का बाह्य में आरोप अथवा स्वाकार में बाह्यारोप से हो सकता है, परन्तु दोनों ही रूपों में समारोप असंगत है, क्योंकि आरोप्यविषय और आरोपविषय तथा स्वाकार और बाह्य इन दोनों का ग्रहण असंभव है।

उत्तर – आरोपतया प्रवृत्ति होना हमारा पक्ष नहीं, अपितु हमारा कहना है कि अनादिवासना के परिपाकवश उपजायमान ही वह बुद्धि बाह्य को न देखते हुए भी प्रवृत्ति को बाह्य में विस्तारित करती है, यद्यपि वह स्वयं अनवस्थित ही है और संसारस्वरूपा भी। धर्मकीर्ति ने कहा भी है– "यद्यपि योगाचारमत में ज्ञानाकार ही अभिधेय होता है, तथापि बाह्य अर्थ में अप्रवृत्ति की आपत्ति नहीं होती, क्योंकि ज्ञानाकार बाह्यत्व का आरोप मान लिया जाता है। शब्दजनित ज्ञान स्वांशावलम्बी होने पर भी अनादि अविद्यावश बाह्यार्थविषयक उत्पन्न हो जाता है, फलतः उसके द्वारा बाह्यार्थ में प्रवृत्ति संभव हो जाती है।[37] अतः रजतादिवत् आरोप के द्वारा प्रवृत्ति होने की बात हम नहीं करते, अपितु यह मानते हैं कि उस प्रकार के आकार की उत्पत्ति से प्रतिबद्ध शक्तिनियम के कारण प्रवृत्ति होती है। विचारक को वस्तु के अदर्शन से होने वाले निश्चय के कारण अप्रवृत्ति होती है, ऐसा नहीं है। साथ ही वस्तु का दर्शन होने पर भी प्रवृत्ति तभी होती है जब अर्थक्रियाप्राप्ति की अभिलाषा हो। अर्थक्रियाप्राप्ति वस्तुसत्ता के नियमाधीन है। यह नियम जिस प्रकार दर्शन के कारण वस्तुप्रतिबन्धीकृत है, उसी प्रकार विकल्पविशेष होने के कारण परंपरया वस्तु– प्रतिवस्तु के प्रतिबन्ध की व्यवस्था है। अतः दर्शन न होने पर भी अध्यवसाय के कारण प्रवृत्ति का होना युक्तिसंगत हो जाता है और इससे अनुमान भी अनवस्थित नहीं हो पाता। इससे यह भी उपदर्शित हो जाता है कि 'वह प्रतीत नहीं होता, उससे अभेद का आभासन होता है' आदि के रूप में उपालंभ असंभव है और प्रतिभास न होने पर भी प्रवृत्ति का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विषयीकरण संभव है। [परन्तु] इसके ऊपर के वाक्यांश में अभिव्यक्त बातें 'अभेदादिनिष्ठा' के आधार पर दिखलायी गई हैं (अर्थात् संवृति के धरातल पर 'प्रवृत्ति की अभेदनिष्ठा' के आधार पर उपर्युक्त व्यवस्था की गई है, तात्त्विक दृष्टि से नहीं)। इस कारण अविचारितरमणीयरूप 'जो जिसमें नहीं है उसमें उसका ग्रहण' ही, जिसका अन्य नाम 'आरोप' है, भ्रान्ति है और उसका क्षय मोक्ष है, ऐसा कहना युक्त है।

गुरु ज्ञानश्रीमित्र ने कहा है – "इस प्रकार विकल्पाकार की उत्पत्ति में प्रवृत्ति का आरोप वैसा ही है जैसा कि जलादि का [मरीचिका में] है और वह सत्य और असत्य समान रूप से है।" "अतः यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से आरोप नाम की कोई वस्तु नहीं है, तथापि व्यवहारकृत होने पर भी इसका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।" "जिस प्रकार मरीचि में जल की कल्पना कर ली जाती है और अनात्मा में आत्मा की [और कल्पना होने से वे भ्रमवत् अतः मिथ्या हैं] उसी प्रकार यह संसार भ्रम ही है और निर्वाण तत्त्वस्थिति है"। "अतः जब तक [तात्त्विक] विचार का उद्भव नहीं होता तभी तक 'यह भव है, निर्वाण इससे अन्य है' इस प्रकार की नयस्थिति होती है। विचार लीला से ललित (रंजित) मानस में ही 'संसार कहाँ है' 'निर्वाण कहाँ है, क्या यहाँ ही है'? इत्यादि प्रश्न उठते हैं"[38]। आचार्य मैत्रेयनाथ भी कहते हैं– "यहाँ (योगाचार मत में) शान्ति (निर्वाण) और जन्म (संसार) में वास्तविक दृष्टि से किञ्चित् भी अन्तर नहीं है, तथापि जन्म (बंधन) और क्षय (मोक्ष) का विधान किया जाता है और माना जाता है कि शुभ कर्म करने वालों को शान्ति (मोक्ष) का लाभ होता है।"[39] आचार्य नागार्जुन का भी कथन है–"निर्वाण और संसार दोनों ही विद्यमान नहीं हैं। संसार के परिज्ञान (वास्तविक ज्ञान) को मोक्ष कहा जाता है"।[40] इस प्रकार सभी लोगों के अनुसार संसार है, क्योंकि प्रकाश (ज्ञान) के द्वारा अविपरीत स्वरूप का संवेदन होने पर भी भ्रान्तिव्यवस्था संभव होने से संसार [का अस्तित्व] है।

प्रश्न – बाह्य विकल्प का अविषय है और विकल्प का ग्रहण शब्द से संयोजित होकर होता है, अतः विकल्पत्व भी दुर्योज्य है। पुनश्च, अपने में शब्दयोजना नहीं होती, अतः विकल्प नाम की कोई वस्तु नहीं, तो फिर विकल्पचिन्ता किसकी?

उत्तर – 'इस स्थान पर आग है' इसमें 'यहाँ पर' ऐसा निश्चय जैसे कायिकीवृत्ति के प्रसूत होने पर होता है, उसी प्रकार वाचिकीवृत्ति के होने पर 'अग्नि मेरे द्वारा प्रतीत की जा रही है' ऐसा अध्यवसाय होता है और इसी आकार वाला अनुव्यवसायरूप निश्चय मानसी भी वृत्ति के होने पर होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ऐसा होने पर जिस प्रकार 'विकल्प में यह अर्थ गृहीत नहीं है' ऐसा निश्चय होता है, उसी प्रकार शब्द से योजित होकर गृहीत होने पर भी होता है, क्योंकि अर्थाकार के अंश के समान शब्दाकार [के अंश] का भी स्फुरण होता है। इस कारण 'अर्थग्रहणाभिमान वाला मानव सविकल्पक ज्ञान के समय (तावत्) नामादि से संयुक्त ग्रहणाभिमान वाला भी है' इस अवसाय के अनुरोध से ही विकल्पव्यवस्था की जाती है, तत्त्वतः नहीं। गुरु ज्ञानश्रीमित्र ने कहा भी है – "शब्द के साथ बाहर अथवा भीतर (मनसि) कहीं पर भी सम्बन्ध नहीं होता। मात्र अर्थ की आकृति अत्यल्प समय के लिए अक्षरों के आकार में फैलकर स्फुरित होती है। यद्यपि दोनों ही स्थितियों में बुद्धि में ही आकार का अध्यवसाय होता है, तथापि वे दोनों बाह्य में ही धारण किये जाते हैं और शब्द विकल्पस्थिति से लगा हुआ रहता है[41]।" "[वस्तुतः] प्रतिभास (भान) अथवा अप्रतिभास में से किसी का भी आरोप नहीं होता। प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद से [की गयी] यह इस प्रकार की व्यवस्थामात्र है। "निर्विकल्प की अपेक्षा विकल्पावस्था में ज्ञानाकार (बुद्ध्याकार) में संकेतकारी वचनों के कारण उसका अनुसरण करने वाली कुछ विशेषताएँ अत्यल्प अंश में आ जाती हैं।" "संकेत सृष्ट है और विश्वास (आस्था) [भी सृष्ट] है। बाद में उसी रूप में हम शब्दों को सुनते हैं। बुद्ध्याकार में तदनुकूल प्रवृत्ति का समारोप होने से वाच्य की (वाच्यवाचकभाव की) व्यवस्था भी बन जाती है।"[42]

उपर्युक्त स्थिति के चलते घट–पटादि वस्तु, साधक–बाधक का अतिक्रमण करने वाली संदिग्ध वस्तु और अक्षणिक आत्मा, दिक्, कालादि अवस्तुओं का हम अध्यवसाय करते हैं। इसका आशय यह है कि प्रतिभास न होने पर भी वे प्रवृत्ति की विषय बनायी जाती हैं। आरोप, एकीकरण, अध्यवसाय, अभेदग्रह का यही अर्थ है और शास्त्र में सर्वत्र इसे इसी अर्थ में समझना चाहिए। अतः आकारविशेष के योग से अध्यवसाय के अगृहीत होने पर भी प्रवर्तनयोग्यता नामक जो धर्म उसमें है उससे बाह्य और अध्यवसाय के मध्य ग्राह्यग्राहकभाव [को यदि] माना जाय, तो संवृत्त्या यह दुस्त्याज्य स्थिति होगी और उस अवस्था में विषयविषयीभाव भी प्राप्त होगा। इस प्रकार मात्र अध्यवसाय से युक्त ढंग से विषयविषयीभाव का निरूपण हो जाता है। अलंकार भाष्यकार ने कहा भी है–"उसका विषयत्व कैसे है? वहाँ प्रवर्तन के कारण।"[43]

अवसीयमान होते हुए आत्मार्थ (स्वअर्थ त्र स्वरूप) उसके (अध्यवसाय के) द्वारा प्रकाशित क्यों नहीं होता? इत्यादि जो कहा गया था उसका भी उपर्युक्त विवेचना द्वारा निरास हो गया, क्योंकि प्रतिभास न होते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हुए भी उसका (वस्तु के स्वरूप त्र स्वलक्षण का) अध्यवसाय युक्त ढंग से व्यवस्थापित हो जाता है। "?!र्थ के नहीं रहने पर उसे नहीं होना चाहिए" [ऐसा जो पूर्व में विरोधी का आक्षेप था] वह युक्त नहीं, क्योंकि अध्यवसाय द्वारा ग्राह्य असाधारणस्वरूप का प्रतिक्षेप प्रतिभास में मानने पर बुद्धि के साथ उसका तादात्म्य नहीं होगा। [इसी प्रकार] 'सर्वाकार के निश्चय का प्रसंग उपस्थित होने' का दोष भी संगत नहीं, क्योंकि यह पहले ही कहा जाचुका है कि 'सर्वाकार निश्चय' से हमारा अभिप्रेत 'सभी आकारों में प्रवृत्ति कराने का स्वभाव' से है, [साथ ही] जब एक आकार का उल्लेख करने वाले विकल्प की प्रवर्तनशक्ति आकारान्तर में अनुभव का विषय नहीं होती, तो फिर शब्दप्रमाणान्तर की अनपेक्षा कैसे? अतः [हमारा पक्ष] युक्त है। वहाँ (उपर्युक्त प्रसंग में) स्पष्टप्रतिभासी होने से निर्विकल्प [ज्ञान] को ग्राहक [के रूप में] व्यवस्थापित किया जाता है और सविकल्पक [ज्ञान] आरोपकादि के रूप में व्यवहृत होता है, क्योंकि [सविकल्पक के द्वारा] स्पष्ट एक [आकार] की व्यावृत्ति का उल्लेख किया जाता है। जिस प्रकार बाह्य के होने पर कहीं/कभी भ्रमव्यवस्था की जाती है उसी प्रकार सर्वत्र अन्तर्नय (आन्तरिक भावों के क्षेत्र) में भी [भ्रमव्यवस्था होती] है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल बहिर्मुखप्रवृत्ति की अपेक्षा से की जा रही कोई [व्यवस्था] अपने में भ्रम नहीं होती। [पुनश्च,] गोस्वलक्षण के प्रकाश के लिए भी कोई अवकाश नहीं, क्योंकि [प्रथमतः] स्वाकार का ही स्फुरण होता है [और द्वितीयतः] स्वलक्षण में संकेत योजित नहीं किये जासकते। "बुद्धि सविकल्पक ही न हो" (अर्थात् वह निर्विकल्पक स्वरूप वाली मानी जाय) यदि आप ऐसा कहें, तो बुद्धि के स्वरूप की दृष्टि से आपके इस पक्ष में सिद्धसाधन का दोष है [क्योंकि बुद्धि स्वरूपतः निर्विकल्पक होती है]। हाँ, बाह्य की अपेक्षा से अध्यवसाय के समान बुद्धि सविकल्पक ही है। इस कारण सभी 'गो' व्यक्ति में साधारण गोत्व से अलीकगोबुद्धि वाचकशब्द के साथ, वासनाविप्लव के कारण, उस रूप (गाय नाम) से प्रख्यात होती है और उसका यह प्रख्यान 'गौ का अवसाय है' ऐसा पक्ष आप विरोधी को एष्टव्य हो सकता है, तथापि वह पक्ष हमें अभीष्ट नहीं है। पहला कारण यह है कि 'पैरदबाने' रूप सेवा के संकोचवश हम भले ही आपके पक्ष का प्रतिकार न करें और शान्त रहें, किन्तु वह युक्ति और शास्त्र दोनों से बहिर्भूत (बहिष्कृत = असिद्ध) है। दूसरा कारण यह है कि ऐसा न भी हो, तो भी ऊपर हमने आप के पक्ष में जिन दोषों को कहा है उससे भी आपका यह पक्ष नष्ट हो जाता है। विकल्पिकाबुद्धि में अलीकआकार का स्फुरित होना ही अध्यवसाय नहीं है कि कोई अर्थसंगति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हो, अतः 'अर्थ का' सम्बन्ध ऐसा कहना अनुपपन्न है। यहाँ पर क्रम का अभाव होने से बुद्धि (ज्ञान) की प्रत्यक्षता ही है तो अध्यवसाय कैसे? [रत्नकीर्ति कहते हैं कि] 'हम ऐसा नहीं समझते कि अप्रतिभासमान भी स्वलक्षण का भ्रान्ति के द्वारा अवसाय (अध्यवसाय) होता है।' अवसाय के द्वारा स्वलक्षण का वित्तिस्पर्श होने से अतिरिक्त प्रतिभास की अन्य कोई स्थिति तो होती नहीं। चूँकि उपर्युक्त ज्ञान के अस्पष्ट होने से अध्यवसाय होता है, अतः अध्यवसाय अयुक्त है, क्योंकि तद्रूप की वित्ति (वस्तु के स्वरूप का ज्ञान) होने पर जो अस्पष्ट है उसका ही अभाव रहता है। आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है – "सामान्य चेतना के कारणभूत इन्द्रिय और शब्द अन्योन्यज हैं। ऐसी स्थिति में स्फुट एवं अस्फुट इन दो भिन्न आकारों में जिनका अवभास होता है, वे भला एक ही वस्तु के रूप कैसे हो सकते हैं?"[44] तब तो उस समय इस रूप वाली भ्रान्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ पर वस्तु के स्वरूप का ही निर्भास हो रहा है।

यदि विरोध पक्ष से कहा जाय कि अलीक में वृत्ति होने से [भ्रान्ति] होती है, तो हमारा कहना है कि ऐसा ही हो, किन्तु स्फुरित न होते हुए बाह्य का अध्यवसाय कैसे हो सकता है? यदि कहा जाय कि 'वह ही वह है' (अलीक में वृत्ति ही बाह्य का अध्यवसाय है), तो [यह द्रष्टव्य है कि] 'अलीकमिदम्' ऐसा विद्वज्जन बाह्याध्यवसाय की व्यवस्था की दृष्टि से तथा बाह्य के अस्फुरण से उसके (अध्यवसाय के) प्रतिबद्ध न होने के कारण कहते हैं। यदि बाह्य के अस्फुरण और अध्यवसाय में प्रतिबन्ध मान भी लें, तो भी उस स्थिति में 'उसका अध्यवसाय' ऐसा होना चाहिए, नकि 'वह अध्यवसाय', क्योंकि बाह्य के स्फुरण और अस्फुरण का भी अध्यवसाय के साथ योग नहीं होता, अतः अतिहठ की बात यही तक। इस प्रकार प्रतिभासित न होते हुए भी अध्यवसाय मात्र के रूप में सिद्ध होने के कारण ही वह प्रकाशमानता स्वरूप वाला हेतु विपक्ष से (जड़त्व, द्वित्व अथवा अनेकत्व से) पृथक् (भिन्न अर्थात् विज्ञानरूप और अद्वैत रूप), दोषत्रय से विनिर्मुक्त एवं प्रकाशावधि–पर्यन्त ज्ञानात्मक चित्राकारचक्र के एकत्व को साधित करता ही है। गुरु ज्ञानश्रीमित्र ने कहा भी है–

"जो भासित होता है वह एक है, जैसे चित्र में सिताकृति। पीत, शीत, सुखादि आकार वाला चित्र समग्ररूप से भासित होता है [अलग–अलग रूप में नहीं]"[45] "प्रस्तुत दृष्टान्त में प्रकाश [रूप हेतु] की असिद्धि नहीं है, क्योंकि चित्रधर्मी में उसका दर्शन होता है। यहाँ न तो साध्य की वियुक्तता दिखाई पड़ती है और न दृष्टान्त की ही।"[46] "चूँकि एक–एक अणु [अपने–

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपने स्वरूप में] निमग्न रहता है, अतः परस्परसंवित्ति नहीं होती और चूँकि एक अणु का प्रकाश भी नहीं होता, अतः स्थूल ही स्फुरित होता है।[47] "प्रतिभास बाह्यअणुओं का होता है [और तद्विषयक] बुद्धि एक और स्थूलाकार होती है। किन्तु ज्ञानाणुओं का एक स्थूलाकारप्रतिभास कैसे होगा[48]"? इस कारण स्थूलतया–व्याप्त–निर्भास के निवृत्त होने के कारण अनेक से निवर्तमान प्रतिभास एकत्व में ही नियत होता है।"[49] "जिस प्रकार सजातीय समझे जाने वाले भाग से भेद का निराकरण हो जाता है, उसी प्रकार विजातीय समझे जाने वाले [भाग] के अनाभासप्रसंग से भी भेद का निराकरण हो जाता है।"[50] इस प्रकार साध्यवियुक्तता, दृष्टान्तवियुक्तता और हेतुविपर्यय (विरुद्धहेतु) की शंका न होने से हेतु निर्दोष सिद्ध हुआ और फलतः चित्राद्वैत भी युक्त रूप में सिद्ध हो गया।"[51]

संग्रहश्लोक – "जिस प्रकार आभास को एकत्वेन आप्तिमान् (व्याप्तिमान्) माना जाता है उसी प्रकार वह (प्रतिभास) प्रत्येक अणुओं में स्थूलतया व्याप्त है ऐसा कहीं पर भी, यहाँ तक कि स्वप्न में भी, उसका निर्भास नहीं होता। आभास प्रत्यणुभेदन से उपरत है और स्थूल की व्यापकता की समाप्ति होने से चित्र में अनेक वर्णों का जो संग्रह है वह एकत्वेन निर्भासित होता है।"[52]

आशंका – आपने ऊपर अपने विवेचन में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही प्रमाणों के द्वारा दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक दोनों ही स्थलों पर एकत्व का विधान किया है, किन्तु उसमें देश, काल और आकार के भेदलक्षण की विद्यमानता के कारण आपका पक्ष प्रतिहत है। अतः अनुमानप्रयोग द्वारा आप एकत्व की सिद्धि कैसे कर सकते हैं?

उत्तर – आप विरोधी जिस प्रत्यक्ष को भेदसाधक के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं क्या वह नीलादि का अनात्मभूत है अथवा आत्मभूत? प्रथम पक्ष के अनुसार नीलादि के भेद की सिद्धि तो दूर, उसकी सत्तामात्र की भी सिद्धि नहीं होती। आपको इस नीलादि अर्थ को जड़, विज्ञानान्तरस्वरूप अथवा अलीक स्वरूपवाला स्वीकार करना होगा। [किन्तु] इन तीनों पक्षों में प्रकाश्यप्रकाशकभाव का अभाव है। इस प्रसंग में हमारा प्रश्न है कि ज्ञान की प्रकाशकता क्या उसकी विद्यमानता है अथवा व्यापार का आवेश। प्रथम पक्ष को मानने पर सभी के सर्वदर्शी होने का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि सभी पुरुषों के ज्ञान की विद्यमानता के कारण सभी के प्रति अविशिष्टता ही होगी। पुनश्च, वैसी स्थिति में नीलादि के द्वारा भी ज्ञान के ग्रहण का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि विद्यमानत्वरूप ग्राहक का लक्षण नीलादि के लिए भी संभव है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि 'ज्ञातता के होने पर विद्यमानता होती है' ऐसा विशेषणयुक्त लक्षण आप दें, तो नीलादि की अज्ञानता की आपत्ति पर आयुष्मान आप क्या 'न्याय की गुहार' (कोशपानम्) करेंगे कि उसकी प्रतिज्ञामात्र के कारण (बिना कोई भी युक्ति प्रस्तुत किये, केवल कथन मात्र से) [अपनी] सत्तामात्र से एक ही समय में स्फुरित हो रहे विज्ञान और नील इन दोनों में से एक (अर्थात् नील) के जड़त्व, बाध्यत्व, अलीकत्व और अप्रकाशत्वादि व्यवस्थापित कर दिये जाते हैं?

[प्रकाशता एक व्यापार है इस] द्वितीय पक्ष के विषय में प्रश्न है कि वह व्यापार क्या प्रत्यक्ष की आत्मा है (धर्म अथवा स्वरूप है) अथवा ज्ञानान्तर (प्रत्यक्षेतर ज्ञान), अर्थ की आत्मा है या अन्य अर्थ। प्रथम विकल्प उचित नहीं, क्योंकि अपने में क्रिया मानने में विरोध है। द्वितीय विकल्प के संदर्भ में यदि ज्ञानान्तर अन्यविषयक है, तो अर्थ का उससे कुछ भी [सरोकार] नहीं। आज तक भी उसका (अन्यविषयक ज्ञानान्तर का) विषयत्व सिद्ध नहीं है, क्योंकि [अभी तक] उसकी प्रत्यासत्ति पर ही चिन्ता की जा रही है। [प्रकाशता रूप व्यापार अर्थ का स्वरूप ही है, इस] तृतीय विकल्प के संदर्भ में यह कहना है कि उस स्थिति में नीलादिक अर्थ नीलादि अर्थस्वरूप ही रहेंगे, प्रकाशित नहीं होंगे, ठीक वैसे ही जैसे कि तेल, बाती आदि के द्वारा दीपक होता है। प्रकाश तो स्वयं होता है। ऐसी परिस्थिति में उनकी ज्ञातता अन्य से होगी और इस कारण सन्तानान्तरवत् उनके अप्रतिभास का प्रसंग उपस्थित होगा। प्रकाश रूप व्यापार अन्य अर्थ है, इस चतुर्थ विकल्प की स्थिति में नीलादिक उसमें ही स्थित रहेंगे। यह स्वीकार करना उचित नहीं है कि ज्ञान में अनात्मप्रकाशन का सामर्थ्य है, क्योंकि व्यापार की तरह प्रकाशन भी निराकरणीय है। यह कथन भी युक्त्य नहीं कि जिस प्रकार अग्नि और धूम में कारणकार्यभाव है वैसा ही ज्ञान और ज्ञेय में भी स्वाभाविक ग्राह्यग्राहकभाव है, क्योंकि प्रमाणसिद्ध कारणकार्यभाव की भाँति ग्राह्यग्राहकभाव के स्वरूप के विषय में इस समय में भी निर्वचन करना (निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना) शक्य नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में नीलादि के विषय में वार्ता कहाँ संभव है कि उसके भेद की सिद्धि की प्रत्याशा को प्रत्यक्षतः संपादित किया जाय।

वह प्रत्यक्ष [नीलादि] का आत्मभूत है इस द्वितीय पक्ष को लें। इस अर्थ में भी नीलादि का आत्मभूत स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ही भेदसाधक के रूप में स्वीकृत होगा। यदि वह प्रत्येक आकार में भिन्न–भिन्न है, तो सभी अपने–अपने रूप में निमग्न रहेंगे। परिणामतः चित्र के प्रकाश के प्रणाश का प्रसंग उपस्थित होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि उपर्युक्त दोषों के भय से यह अभीष्ट हो कि जितने भी प्रकार के आकार हैं उन सभी में एकत्व ही है और सभी आकारों के एकत्व का स्वसंवेदनात्मक होना उनका स्वभावभूत है, तो इसी को ही चित्राद्वैतविज्ञान कहा जाता है, जो अनेकरूप में अभिमत, सहोपलब्ध नील–सुखादि आकारों का स्वभावभूत और स्वसंवेदनप्रत्यक्ष स्वरूप है। गुरु ज्ञानश्रीमित्र ने कहा है–"भ्रम, अभ्रम, कल्पनाएँ, शाताशितादि (श्वेत, श्याम/सुख–दुःखादि) तथा सभी इन्द्रियज्ञान सहोपलब्ध होने के कारण अभिन्न हैं। अतः उनका पूर्वापरत्व वेद्य नहीं है।"[53]

इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों ही स्थलों पर स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से एकत्व सिद्ध है, किन्तु जब इस [एकत्व] में अविद्या के चलते विप्रतिपत्ति होती है, तब उस [एकत्व] की सिद्धि अनुमानतः की जाती है। अतः स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध इस एकत्व के लिए इन्द्रियप्रत्यक्षादि जैसे भेदसाधक और विरुद्धधर्माध्यास (देश, काल और आकारगत भेद) लक्षण वाले अनुमान के लिए कोई अवसर सुलभ नहीं। इन्द्रियप्रत्यक्षादि को इसलिए नहीं, क्योंकि भेदसाधक इन [स्वसंवेदन से भिन्न] प्रत्यक्षों का उक्तक्रमेण अप्रामाण्य होता है और विरुद्धधर्माध्यासलक्षण वाले अनुमान को इसलिए नहीं, क्योंकि उस स्थिति में प्रत्यक्षादि से पक्ष बाधित रहता है।

आशंका – यहाँ हमें यह कहना है कि [वैसा होने पर भी] प्रतिभासभेद के कारण भेद होता ही है और जो दृष्ट है वह अनुपपन्न नहीं होता।

समाधान – हन्त! प्रतिभास शब्द से आपको क्या अभिप्रेत है, आकारचक्र अथवा स्फुरण? यदि प्रथम पक्ष मान्य हो, तो बाह्यवस्तु के ज्ञातव्य होने पर बुद्ध्याकार (ज्ञानाकार) प्रमाण होगा। वैसा होने पर आकारभेद का व्यवहार करना ही चाहिए, अन्यथा बाह्यभेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। पुनश्च, यदि आकारचक्र ही प्रमेय हो और स्वसंवेदन प्रमाण, तब स्वभावभूत और अखण्डात्मक उसी (स्वसंवेदनप्रत्यक्ष) के द्वारा एकीकृत नीलादि का कहा गया भेद अप्रमादी कैसे?

द्वितीय पक्ष में स्फुरण की जो बात कही गयी है, उससे तो स्वभावभूत और अखण्ड स्वसंवेदन को ही कहना हुआ। [ऐसी स्थिति में भेद की बात तो बनती नहीं]। तो फिर भेद कैसे है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उर्ध्व (?) इन्द्रियप्रत्यक्षतया क्षणभेद की प्रतीति होने पर भी अविद्यावश एकत्व का अध्यवसाय होता है, उसी प्रकार तिर्यक् (?) स्वसंवेदनप्रत्यक्ष के द्वारा आकार के अभेद की अधिगति होने पर भी अविद्यावश ही भेद का अध्यवसाय होता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आशंका – आपने [ऊपर] जैसा कहा है यदि वैसा ही है, तो विरुद्धधर्माध्यासतः व्याप्त होने पर भी विज्ञानाकारचक्र की भाँति [बाह्य के ज्ञानाकारचक्र में भी] भेद नहीं होना चाहिए।

उत्तर – ऐसा (आप जैसा कह रहे हैं वैसा) नहीं है, क्योंकि बाह्यधर्मी में साध्य की अनेकता प्रत्यक्षादि से अबाधित है। बुद्ध्याकारचक्र में पूर्वोक्तक्रम से स्वसंवेदनादि से सिद्ध एकत्व में अनेकता के निराकृत हो जाने के कारण बाधक का अवतरण संभव नहीं। इस कारण 'विज्ञानत्वेसति' इसे हेतु का विशेषण बनाना ही चाहिए जिससे यह सिद्ध होता है कि भेद केवल बाह्य का है (बाह्यार्थवाद में ही भेद शक्य है)।

पूर्वपक्ष – यदि विज्ञानस्वरूप विविध आकारों वाला चक्र एक है, तब नीलाकार भी पीतादि आकारचक्र में प्रविष्ट हो सकेगा। वैसा होने पर प्रकाशचक्र और आकारचक्र में व्यक्ति और सामान्य की तरह, अभेद होगा और [परिणामतः] या तो प्रकाश [चक्र] ही रहेगा या मात्र आकारचक्र।

उत्तर – आपका कथन असत् है। प्रसंग और विपर्यय इन दोनों में जो भेद है वह बाह्यार्थवाद में ही युक्तिसंगत है, क्योंकि बाह्यार्थवाद में इन्द्रियप्रत्यक्ष को भेदग्राहक मानना हमें अभीष्ट है, [विज्ञानवाद में हम साकारवादी प्रकाश और आकार में भेद नहीं मानते]। [पुनश्च,] विज्ञानवाद में स्वसंवेदन नामक एक ही प्रमाण माना जाता है। इस (स्वसंवेदन) से भी भेदरूप विपर्यय की सिद्धि होने से प्रसंग भी असंगत (असिद्ध) हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अद्वैत ही है।

[पुनश्च,] इस प्रकार (अर्थात् पूर्वपक्ष ने ऊपर जैसा कहा है उसके अनुसार तो) स्थूल नीलादिआकार भी परमाणुमात्र में प्रवेश कर जायेगा, फलतः संसार अप्रतिभास की स्थिति को प्राप्त हो जाता। [किन्तु] प्रतिभास है [जिससे यह सिद्ध होता है कि स्थूल नीलादिआकार सिकुड़ कर परमाणुमात्र में प्रवेश नहीं करता। अतः इस रूप में भी विरोधी का पक्ष खण्डित हो जाता है]। अतः यथावस्थित ही आकारों की अखण्ड स्वसंवेदनस्वरूपता ही एकत्व है। हमें न भेद को और न संकोच (स्थूल आकार के सिकुड़न) को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि [भेद और संकोच को स्वीकार करने पर] अप्रतिभास का प्रसंग उपस्थित होगा। उसी प्रकार कृतकत्व का अनित्यत्व–वस्तुत्वादि से अभेद मानने पर यह बतलाने का प्रसंग आपड़ेगा कि उसका मात्र कृतकत्व है या मात्र अनित्यत्व, क्योंकि सामान्य और व्यक्ति की भाँति उन दोनों का, अखण्ड स्वरूप होने के कारण, वस्तुतः अभेद है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

 Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि पूर्वपक्ष से कहा जाय कि व्यावृत्तिभेद ही परम् है, तो उस स्थिति में प्रकाश और नील का भी वही क्रम जाग्रत होगा, फलतः एक के ही बचे रहने का प्रसंग उपस्थित होगा। [किन्तु] यह कुछ नहीं बालप्रलाप मात्र है। ज्ञानश्रीमित्र इस प्रसंग में कहते हैं –

"अणुभेदतया भी (अणुसंघात में निहित अनुपात के अनुरूप भेद होने पर भी) बाह्यपदार्थ नष्ट नहीं होते, अपितु उनकी सत्ता बनी रहती है। हाँ, अर्थक्रिया के अभाव की स्थिति में उनमें स्वरूपभेद की दृष्टि से रूपसंकरता की स्थिति बनती है। किन्तु बुद्धि (धी) भेद होने पर नष्ट हो जाती है, क्योंकि वित्ति (संवित्ति या प्रकाश) ही उसकी सत्ता है। अतः चित्र भी भेद की स्थिति को प्राप्त नहीं होता (अनेक नहीं होता, अपितु एक या अद्वैतरूप ही रहता है, क्योंकि वह स्वसंवेदनात्मक विज्ञानस्वरूप है)। इसमें हम क्या कर सकते हैं?[54]

पूर्वपक्ष – देशवितान की प्राप्ति आत्मान्तर (स्वरूपान्तर, विज्ञानान्तर) के बिना नहीं होती और देशवितान के न होने पर आभासन का हो सकना शक्य (संभव) नहीं।[55]

उत्तर – "अपना ही अन्य स्वरूप विलग अथवा भिन्नस्वरूप नहीं होता। [अपना ही स्वरूपान्तर अलग और भिन्न स्वरूप वाला हो ऐसा] बाह्यार्थ में ही युक्तिसंगत होता है। ज्ञान की निष्ठा स्ववित्ति में होती है। अतः जो विज्ञानेतर है उसकी गति क्या होगी ?[56] [पूर्वपक्ष से पुनः आक्षेप है कि]" वह ज्ञान (चित्र का ज्ञान) नीलादिवत् (नील–पीत आदि की भांति अनेक) है और एक भी है, ये दोनों बातें साथ–साथ कैसे संभव हैं? [उत्तर है कि] आप भी तो नील और नीलांशान्तर (नील के अन्य अंश) की बात करते हैं और यह भी कहते हैं कि वहाँ एक ही नील है, तो वह आपको कैसे संगत लगता है?[57] यदि कहा जाय कि हमारा पहले वाला जो पक्ष था वह भी हमें अभीष्ट नहीं है, तो प्रश्न है कि अणुओं के अन्तर्भेद का भासन कैसे होगा, क्योंकि परमाणु परीक्षाक्षम तो हैं नहीं, अतः तब भेद कैसे होगा?[58] "यदि यह कहा जाय कि परमाणु का [परीक्षाक्षम] वस्तु के रूप में भाव (सत्ता) नहीं है, अतः उनमें भेद नहीं हो पा रहा है तो मत हो, तो यह भी एकत्व की हानि होने पर ही संभव है। किन्तु 'विज्ञान' की एकता तो निर्भासतः सिद्ध है और उसकी वस्तुता स्वसंवित्तितः सिद्ध है।[59] "हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से होने वाला उत्पाद और अनुत्पाद इसमें (विज्ञान के वस्तुताभाव त्र वस्तुसत्ता में) बाधक नहीं। एक और अनेक दोनों की विरहता की स्थिति में भी विज्ञान की सत्ता उसके स्फूर्तिमात्र से सिद्ध है।"[60] [पुनश्च, हमारा विज्ञान अद्वैत–विज्ञान–बिन्दु है और] पूर्वापरज्ञान अद्वैत में विद्यमान नहीं होता, अतः प्रतीत्यसमुत्पन्नता, जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

असिद्ध है उसमे भी, असाधन (साधित करने में असमर्थ) रूप है।[61] अनुत्पाद और अनेकान्त भी अकार्य के कारण स्वरूप हैं। "कारण और कार्य (हेतु और फल) दोनों की हानि होने पर जो स्फुरित हो रहा रूप है वह कहाँ जाय"?[62] यदि कहीं पर कदाचित् एकतया अथवा अनेकतया वस्तुव्याप्ति सिद्ध हो जाय, तो सर्वशून्यता के काल में [एकानेकतया वस्तुव्याप्ति के लिए दिया गया] हेतु ही अभीष्ट का विघातक होगा।"[63] "यदि कहा जाय कि [ऊपर कही गयी बात] लोकप्रसिद्धि के आधार पर है, तो इसका अर्थ हुआ कि सभी लोगों के द्वारा उस रूप में उसकी कल्पना नहीं की जाती। पुनश्च, लोकव्यवस्था का आश्रय प्रमाणसम्मत होना चाहिए, लोकमान्यता नहीं।"[64] "ऐसी कोई व्यवस्था हमें अभीष्ट नहीं जो प्रत्यक्ष और अनुमान की अंग न हो। पुनश्च, ऐसी कोई वस्तु भी नहीं हो सकती जिसकी राशि अनेक हो।"[65] "जो सत्त्वव्याप्ति को दो एकतर के कारण मानता है वह बिनाशार्ह है। अभ्रान्त ज्ञान मात्र के द्वारा सत्ता को मानने वाले ही विजयशील होते हैं।"[66]

एन-13/209, एच-12
ब्रीज एनक्लेव कॉलोनी
सुन्दरपुर, वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

नोट– ज्ञानश्रीमित्र निबंधावली और रत्नकीर्ति निबंधावली के पृष्ठों की टिप्पणी में अंकित संख्या, काशी प्र.जाय.रिस.इन्स्टी. पटना, द्वितीय संस्करण, से है।

1. *'सकलजड़पदार्थराशि' का तात्पर्य है सभी जड़राशि और सभी पदार्थराशि। 'जड़राशि पद' से सभी प्रकार की जड़वाद सम्बन्धी तात्त्विक व्यवस्था का प्रत्याख्यान अभीष्ट है। 'पदार्थराशि' पद से सभी द्रव्यवादी, अतः नित्यतावादी और स्थिरवादी तात्त्विक व्यवस्था का खण्डन अभिप्रेत है। इसप्रकार अर्थतः विज्ञानवादी– क्षणिकवादी तत्त्वमीमांसा की ओर संकेत किया गया है।*

   दूसरे वाक्य से निराकारवाद के सामान्यस्वरूप और तृतीय तथा चतुर्थवाक्य से संवृत्ति के धरातल पर साकारवाद को मानते हुए भी परमार्थतःनिराकारवाद को मानने वाले मत के अमान्य होने का उल्लेख कर रत्नकीर्ति साकारविज्ञानवाद (सत्याकारविज्ञानवाद) रूप स्वाभिमत को इंगित करते हैं।

2. *पाचवाँ वाक्य बंधन–मोक्ष के विषय में है। साकारविज्ञानवादी इस व्यवस्था को स्वप्नवत् कहते हैं। 'स्वप्नवत्' कहना उन्हें रुचिकर है, क्योंकि इससे विज्ञानवादी व्यवस्था को यथेष्ट पोषण प्राप्त होता है। विशेष विवरण के लिए 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' का द्वितीय परिच्छेद द्रष्टव्य है।*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

3. ऊपर के पाँच वाक्यों के द्वारा आचार्य रत्नकीर्ति साकारविज्ञानवाद की चित्राद्वैतशाखा की तार्किक पूर्वभूमि का संक्षिप्त रूप में निर्देश करने के साथ ही उसकी प्रमुख विशेषताओं का भी उल्लेख करते हैं। चित्र के प्रत्यक्ष के संदर्भ में विज्ञानवादियों में भी स्वयूथविरोध था और इस विषय में कई मत थे, जिसकी अतिसंक्षिप्त सूचना ज्ञानश्रीमित्र ने दी है। देखें, ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, द्वितीय संस्करण, 'अद्वैतबिन्दुप्रकरण, पृ. 354, पंक्ति 1–4। इसके हिन्दी सारांश के लिए देखें, बौद्धविज्ञानवाद, चिंतन और योगदान' नामक ग्रन्थ में स्वर्गीय पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय का लेख, पृ. 71।

4. सहोपलंभनियम विज्ञानवादी बौद्धों का प्रख्यात नियम है जिसके द्वारा नील और नीलज्ञान में अभेद सिद्ध होता है। सर्वदर्शनसंग्रह में इसका उद्धृत रूप इस प्रकार है –

   सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
   भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये।। प्र.वि.1/93

   अर्थात् सहोपलम्भनियम के कारण नील और नीलज्ञान में अभेद सिद्ध है। किन्तु भ्रान्तिज्ञान के कारण उनमें भेद की प्राप्ति वैसे ही होती है जैसे एक (अद्वय त्र दो नहीं) होने पर भी भ्रान्तिवश चन्द्रमा दो दीख पड़ता है (दो जैसा जान पड़ता है)। मूलतः यह श्लोक प्रमाणविनिश्चय के प्रथम अध्याय का 93वां श्लोक है।

5. स्वभावहेतु में प्रयुक्त पदावली चित्राकार विज्ञान के नानत्व के विविध आयामों को प्रदर्शित करने के लिए है। आचार्य ज्ञानश्रीमित्र भी 'साकारसिद्धिशास्त्रम्' के 'निराकारनिराकरण' नामक परिच्छेद, पृ. 367 में जगत् के विषय में लिखते हैं – "गौरगान्धारमधुरसुरभिसुकुमारशातेतरादिचित्राकारं जगत्"।

6. अन्य अधिकरण – जब हम "पर्वतो बह्निमानः, धूमत्वात्" अनुमानप्रयोग करते हैं, तो उदाहरण वाक्य में पक्षपद (पर्वत) से अन्य 'रसोईघर' को अग्नि का अधिकरण बनाते हैं, पक्षपद को ही अधिकरण नहीं बनाते। उसी ओर 'अन्य अधिकरण' पद से संकेत किया जा रहा है।

7. प्रसिद्ध अनुमान, अर्थात् क्षणभंगसिद्धान्त को प्रसाधित करने हेतु अनुमानप्रयोग। यह सर्वप्रसिद्ध है कि धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित,कमलशीलादि के अतिरिक्त आचार्य प्रज्ञाकर गुप्त के अनुयायी ज्ञानश्रीमित्र ने चार पादों वाले 'क्षणभंगाध्यायः' नामक सबसे लम्बे ख59 पृष्ठ वाले, निबन्ध में क्षणभंगसिद्धान्त के सभी आयामों की सबसे गहन और विस्तृत विवेचना की है। प्रथम पाद में ही वे लिखते हैं –

   यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तस्तु भावा इमे
   सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा।
   नाप्येकैव विधान्यदापि परकृन्नैव क्रिया वा भवेद्
   द्वेधापि क्षणभंगसंगतिरतः साध्ये च विश्रास्यति।।
   ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृ. 1

   आशय यह है कि 'जो भी सत् है वह क्षणिक है, जैसे कि जलधर। सभी भाव (पदार्थ) भी तद्वत् अस्तित्ववान हैं। अतः इनमें कोई भी नित्य या शाश्वत नहीं हो सकता, क्योंकि युक्तिसिद्ध अर्थक्रियाशक्ति ही सत्ता का लक्षण है। यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थक्रियाशक्ति किसी शाश्वत या नित्य पदार्थ में नहीं हो सकती। नित्य पदार्थ युगपद् रूप में अथवा क्रमिक रूप में भी उत्पादन में समर्थ नहीं हैं। पुनश्च, किसी सहकारी के भी सहयोग से वे उत्पादन में समर्थ नहीं हैं। क्षणभंगसिद्धान्त की अन्वय और व्यतिरेक दोनों व्याप्तिओं के द्वारा सिद्धि शक्य है।'

रत्नकीर्ति ने भी 'क्षणभंगसिद्धि' नामक निबन्ध लिखा है, जिसके दो खण्ड हैं – अन्वयात्मिका और व्यतिरेकात्मिका। उन्होंने अपने अनुमान– प्रयोग में जलधर के स्थान पर घट को दृष्टान्तधर्मी बनाया है – "यत् सत् तत् क्षणिकम्। यथा घटः। सन्तश्चामीविवादास्पदीभूताः पदार्था इति स्वभाव हेतुः।" इसमें असिद्धि–दोष नहीं है इसको प्रदर्शित करने के साथ ही विरुद्ध और अनैकान्तिक दोष के नहीं होने को प्रदर्शित करते हुए वे लिखते हैं– "जिसका क्रमाक्रम विद्यमान नहीं होता, उसका अर्थक्रियासामर्थ्य नहीं होता, जैसे शशविषाण। जो अक्षणिक होता है उसमें क्रमाक्रम नहीं होता – व्यापकानुपलम्भ। हमारे हेतु में असिद्धहेतुदोष नहीं है, क्योंकि अक्षणिक धर्मी में क्रमाक्रम का सद्भाव नहीं हो सकता। कारण यह है कि नित्यता का अर्थ है प्राप्तकाल और तदन्यकाल में एकत्व। यदि नित्यता में क्रमाक्रम का होना माना जाय, तो प्राप्तकाल और अनुवर्तीक्षण में अवश्य ही भेद होगा। चूँकि भेद और अभेद परस्पर विरोधी हैं, अतः अक्षणिक में क्रमाक्रम कैसे संभव हो सकता है? दो क्षणों में भी भेद होने पर क्रमाक्रम की स्थिति संभव हो पाती है। इनमें अभेद होने पर प्रथम क्षण में ही अर्थक्रियासामर्थ्य मानना होगा और इस कारण भावी भी कार्य को वह करने में समर्थ होगा, तो फिर कार्यान्तर को करने में क्रमान्तर को अवसर ही संभव नहीं होगा। अक्षणिक के अक्रम के द्वारा ही सारे स्वकार्य कर लिए जाते हैं ऐसा मानना स्वस्थ स्थिति नहीं है, क्योंकि अन्यक्षण में भी अर्थक्रियासामर्थ्य के कारण पुनः उसी कार्य को किये जाने का प्रसंग उपस्थित होगा।"

"अतः अक्षणिक होने का अर्थ है कि वहाँ पूर्व और अपर काल में अभेद है। क्रमाक्रमयोग का अर्थ है कि पूर्व और अपरकाल में भेद है। इस प्रकार इनमें परस्पर परिहारलक्षण वाला विरोध है। अतः अक्षणिकधर्मी में क्रमाक्रमाभाव लक्षण वाले हेतु को असिद्ध नहीं कहना चाहिए, क्योंकि क्रमाक्रमयोग वाले (क्षणिक) और अक्षणिक इन दोनों में विरोध होता ही है।" पृष्ठ 83, पं. 13–24

[हमारे अनुमानप्रयोग में] विरुद्ध हेतु का भी दोष नहीं है, क्योंकि सपक्ष में उसका भाव है। अनैकान्तिकता का भी [हमारे पक्ष में] दोष नहीं है, क्योंकि क्रमाक्रमाभाव अर्थक्रियासामर्थ्याभाव से व्याप्त है।"

"जिस प्रत्यक्षात्मक प्रमाण के द्वारा अपर प्रकार के अभाव के कारण भावात्मक क्रमाक्रम के द्वारा भावात्मक अर्थक्रियासामर्थ्य की व्याप्ति प्रसाधित हो जाती है, उसी अर्थक्रियासामर्थ्य के न होने के द्वारा क्रमाक्रमाभाव की व्याप्ति प्रसाधित हो जाती है, इसे स्वीकार करना चाहिए। दहनादि के द्वारा धूमादि की व्याप्ति प्रसाधित होती है, इससे अपर प्रमाण इन दोनों में व्याप्ति के लिए नहीं होता और धूमादि के अभाव से अग्नि के अभाव की व्याप्ति के लिए भी किसी अपर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रमाण की शरण लेनी नहीं पड़ती। अतः विधिरूप व्याप्ति के लिए जो साधक प्रमाण है, वही निषेधरूप (व्यतिरेक रूप) व्याप्ति का प्रमाण है, इस न्याय का चूँकि दुरतिक्रम है, अतः सत्ता के अभाव से क्रमाक्रम का अभाव व्याप्त होता ही है। [इस प्रकार] इसमें अनैकान्तिकता का दोष नहीं होने से व्यापकानुपलम्भ भी निर्दोष सिद्ध हुआ। पृ. 84, पं. 1–9

आचार्य रत्नकीर्ति उपयुर्क्त विधि का प्रयोग 'चित्राद्वैतविज्ञान' की सिद्धि हेतु प्रयुक्त अपने अनुमानप्रयोग में भी करते हैं। हाँ, इस संदर्भ में ज्ञानश्रीमित्र की भाँति उन्हें भी प्रतिभासलक्षणसत्ता मान्य है, शक्तिलक्षणसत्ता नहीं।

8. विपर्ययबाधकप्रमाणबल – स्वपक्ष के विपर्यय अर्थात् प्रतिपक्ष को बाधित करने वाला प्रमाणबल। जैसे 'जो सत्तावान् होता है वह क्षणिक होता है।' इसका विपर्ययबाधक प्रमाणबल हुआ – "जो अक्षणिक होता है उसकी सत्ता नहीं होती।" बौद्धों के अनुसार सत्ता का इस प्रसंग में अर्थ है, अर्थक्रियासामर्थ्य वाला होना। अर्थक्रियासामर्थ्य उसी में हो सकता है जिसमें क्रमाक्रमकारित्व हो। क्रमाक्रमकारित्व अक्षणिक अर्थात् नित्य में नहीं हो सकता। अतः सिद्ध हुआ कि नित्य अर्थात् अक्षणिक में अर्थक्रियासामर्थ्याभाव है। अतः उसकी सत्ता भी नहीं। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि क्षणिक की ही सत्ता होती है। वस्तुतः विपर्ययबाधक प्रमाणबल व्यापकानुपलंभ स्वरूप वाला होता है।
9. दुरुद्धर – जिससे उबर पाना दुष्कर हो।
10. विप्रकृष्ट – प्रकृष्ट का विपरीत। प्रत्यक्ष के लिए पदार्थों की देश, काल और स्वभावगत आदर्श स्थिति को प्रकृष्ट स्थिति कहते हैं जिसमें प्रत्यक्ष स्फुटतम रूप में घटित होता है। किन्तु जब प्रत्यक्ष के लिए पदार्थ की देश, काल और स्वभावगत स्थिति इसके विपरीत हो, तो वे पदार्थ विप्रकृष्ट पदार्थ कहे जाते हैं। इसप्रकार विप्रकृष्ट का अर्थ हुआ जो देश, काल और स्वभाव से अज्ञेय हो। अतः विप्रकृष्ट पदार्थों का प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से ज्ञानाभाव होता है।
11. द्रष्टव्य, प्र.वा. 2/207–8
12. ज्ञानश्री.निब. पृ. 391। रत्नकी. निब. पृ. 132 में उद्धृत।
13. वही, पृ. 391। रत्नकी. निब. पृ. 132 में उद्धृत।
14. वही, पृ. 391।
15. ज्ञानश्री. निब. पृ. 399। इस प्रसंग में आचार्य ज्ञानश्रीमित्र के विचारों का सारांश यहाँ प्रस्तुत है। सत्त्व या सत्ता का अन्य के द्वारा अपहरण संभव नहीं। यदि आकार का सत्त्व उसके प्रकाशित अथवा निर्भासित होने से ही न माना जाय, तो अर्थक्रियास्थिति के लिए भी समस्या उपस्थित होगी, क्योंकि वह भी सभी के लिए प्रयुक्त्य नहीं है। कुछ के लिए भी उसे प्रयुक्त्य स्वीकार करने पर उसके निर्भासन को भी स्वीकार करना पड़ेगा। पुनश्च, बाह्य भी अर्थ में प्रकाशतः ही उसके सत्त्व की तात्त्विकता अभीष्ट है। वस्तुतः प्रतिपत्ता के अभिप्राय से अर्थक्रियाशक्ति के द्वारा सत्ता की व्यवस्था की जाती है। पुनश्च, प्रकाश के अभाव की स्थिति में शक्ति (अर्थक्रियाशक्ति) की सत्ता भी असिद्ध ही रहती है। ऐसी स्थिति में उसे शक्त्यन्तर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के बल की अपेक्षा होगी और उसे अन्य की। फलतः अनवस्था की प्रसक्ति होगी। यह भी स्मरणीय है कि कार्य के द्वारा हमें शक्ति का ज्ञान होता है और कार्यता परसापेक्ष (कारणसापेक्ष) है। अभ्याससामर्थ्य से हमें शक्ति का विनिश्चय होता है। अतएव प्रकाश ही सत्त्व है। बुद्धि उसी का कार्य ही है। इस प्रकाश या प्रतिभास के सत्त्व के लिए कार्यान्तर की अपेक्षा नहीं होती, अपितु वह स्वसंवित्‌रूप है। गोचर भले ही व्यभिचरित हो सकता है, स्वबुद्धि में व्यभिचार कभी भी संभव नहीं। यदि उसमें कभी किसी को संदेह हो, तो उस स्थिति में कार्य में अभ्यास से निश्चय हो जाता है। इसी कारण बाह्य के भी सत्त्व की बात कही जाती है, किन्तु तत्त्वतः स्थिति प्रकाश के ही कारण है। सभी अर्थक्रियार्थियों के लिए वस्तुता फल (परिणाम, अभीष्टप्राप्तिरूप फल) से ही होती है। प्रतिभास वा प्रकाश वहाँ पर क्रिया के आश्रय के रूप में न्यस्त रहता है। अतः बाह्यार्थवाद में यद्यपि व्यवहारतः शक्ति को सत्ता कहा जाता है, तथापि तात्त्विक सत्ता प्रकाश की ही है। इस प्रकार सत्ता द्विविध है –1 व्यावहारिक अर्थात् अर्थक्रियाशक्तिलक्षणसत्ता और 2, तात्त्विकसत्ता अर्थात् प्रतिभासलक्षणसत्ता।" ज्ञानश्री. निब. पृ. 399–400।

16. वही, पृ. 391; पृ. 467, पं. 15–16 और पृ. 563, श्लोक 62, 65।
17. वही, पृ. 392।
18. वही, पृ. 391।
19. वही, पृ. 388, पं. 5–7 से अनुवाद के मूल पाठ की तुलना करें।
20. वही, पृ. 388, पं. 8–10।
21. वही, पृ. 388।
22. वही, पृ. 388।
23. वही, पृ. 388।
24. वही, पृ. 388–89।
25. मूल में (रत्नकी. निब. पृ. 136, पं. 1) "शब्दप्रवृत्तिमित्तभेदेऽपि" पाठ है। वांछनीय पाठ 'शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेदेऽपि' होना चाहिए।
26. तथा हि सवरेव (रत्नकी. निब.पृ.136, पं. 7) के स्थान पर "तथा हि सर्वैरेव" पाठ होगा।
27. "असति चार्थे सारस्यात्" (रत्नकी. निब.पृ.136, पं. 11) के स्थान पर 'असति चार्थे सा न स्यात्' पाठ होना चाहिए" जैसा कि ज्ञानश्री. निब. पृ. 387 पं. 12 में है।
28. ज्ञानश्री. निब. पृ. 387 पं. 9–18।
29. वही, पृ. 392।
30. अनुवाद में इस स्थल का अर्थ ज्ञानश्री०निब० में प्राप्त पाठ के अनुसार लिखा गया है। ज्ञानश्री में 'नाद्यजस्या...' के स्थान पर "नाक्षजस्या.." और 'अस्य' के स्थान पर 'अस्याः' पाठ है।
31. वही, पृ. 393।
32. द्रष्टव्य, वही, पृ. 518, श्लोक 38
33. रत्नकी. निब., पृ. 137, पं. 9–10।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

34. ज्ञानश्री. निब. पृ. 393 पं. 10–11 में "अभिलाषादि" के स्थान पर "अभिलापादि" पाठ है।
35. वही, पृ. 393।
36. वही, पृ. 393।
37. प्र. वा. 2/13
38. ज्ञानश्री. निब. पृ. 554, ऊपर के चारो श्लोक पृ. 554 में हैं।
39. रत्नकी. निब., पृ. 139 में उद्धृत।
40. वही, पृ. 139 में उद्धृत।
41. ज्ञानश्री. निब. पृ. 227।
42. वही, पृ. 554।
43. "कथं तद्विषयत्वं तत्र प्रवर्तनादिति"। रत्नकी. निब., पृ. 140 में उद्धृत।
44. मुद्रित प्र.वा. में 'यत्' के स्थान पर 'तत्' पाठ है। द्रष्टव्य प्र.वा. 2/235।
45. ज्ञानश्री. निब., पृ. 569।
46. रत्नकी. निब., पृ. 141।
47. ज्ञानश्री. निब., पृ. 569।
48. वही, पृ. 569।
49. वही, पृ. 570।
50. वही, पृ. 570।
51. वही, पृ. 570।
52. रत्नकी. निब., पृ. 141।
53. ज्ञानश्री. निब. पृ. 458।
54. वही, पृ. 573।
55. रत्नकी. निब., पृ. 144।
56. ज्ञानश्री. निब. पृ. 572। भाव यह है कि जो विज्ञानेतरस्वरूप है उसका ज्ञान नहीं होता।
57. वही, पृ. 571।
58. वही, पृ. 571।
59. वही, पृ. 571।
60. रत्नकी. निब., पृ. 144 में उद्धृत।
61. वही, पृ. 144 में उद्धृत।
62. ज्ञानश्री. निब. पृ. 578। भाव यह है कि कारणकार्य के न रहने पर भी स्वरूपसत्ताक विज्ञान बना रहेगा।
63. वही, पृ. 574।
64. वही, पृ. 574।
65. वही, पृ. 574।
66. वही, पृ. 574।

◆◆◆

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संवाद और स्वराज : दयाकृष्ण एवं रामचन्द्र गाँधी के दर्शन पर एक विमर्श*

आनन्द मिश्र

समीक्ष्य पुस्तक "फिलासफी एज संवाद एण्ड स्वराज : डायलॉजिकल मेडिटेशन्स ऑन दयाकृष्ण एण्ड रामचन्द्र गाँधी" बीसवीं शताब्दी के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भारतीय चिन्तकों दयाकृष्ण और रामचन्द्र गाँधी के चिन्तन पर भारतीय उच्चानुशीलन केन्द्र, शिमला में आयोजित संवाद एवं विमर्श का प्रतिफल है। सम्पूर्ण पुस्तक छह भागों में विभाजित है और इसमें दर्शन, इतिहास, कला तथा विज्ञान के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों के कुल मिलाकर अठारह लेख हैं। इन लेखों से पूर्व पुस्तक की संपादिका शैल मायाराम ने भूमिका में दयाकृष्ण और रामचन्द्र गाँधी के दार्शनिक अवदानों का संक्षिप्त परिचय देते हुए पुस्तक में समाविष्ट विभिन्न लेखों की सारभूत विशेषताओं को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। पुस्तक का प्राक्कथन पीटर रोनाल्ड डीसूजा ने तथा पुरोवाक् कपिला वात्स्यायन ने लिखा है। डीसूजा का प्राक्कथन, कपिला वात्स्यायन की पूर्वपीठिका और शैल मायाराम की भूमिका ग्रन्थ के विषय, उद्देश्य और रचना प्रक्रिया को समझने में बहुत ही उपयोगी साबित होती है। डीसूजा ग्रन्थ के आरम्भ में ही कहते हैं कि प्रस्तुत रचना भारतीय जनमानस को औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त करने की दिशा में एक प्रयास है। इस अर्थ में शैल मायाराम की पुस्तक दयाकृष्ण और रामचन्द्र गाँधी के चिन्तन पर विमर्श के माध्यम से वैचारिक स्वराज की उस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाती है जिस ओर आनन्द कुमारस्वामी ने अपने 'आर्ट एण्ड स्वदेशी', महात्मा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' तथा कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य ने "वैचारिक स्वराज' में आह्वाहन किया था। डिसूजा कहते हैं कि दयाकृष्ण और रामचन्द्र गाँधी दोनों ही आरम्भ में पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान की प्रणाली में

---

* *फिलॉसफी एज स्वराज एण्ड संवाद : डायलॉजिकल मेडिटेशन्स ऑन दयाकृष्ण एण्ड रामचन्द्र गाँधी, सम्पा. शैलमायाराम, सेज पब्लि. नई दिल्ली, 2004, मूल्य – 895/–*

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रशिक्षित रहे, पश्चात् इनका आकर्षण भारतीय दर्शन व चिन्तन में बढ़ता जाता है। डीसूजा का मानना है कि इस आकर्षण को महज संयोग नहीं समझा जा सकता अपितु इसे वैचारिक स्वराज के पथ पर बढ़ाया हुआ उनका सुचिन्तित कदम समझना चाहिए।

शैल मायाराम द्वारा संपादित इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और रोचक अंश स्वयं शैल द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका और ग्रन्थ के अन्त में प्रस्तुत दयाकृष्ण एवं रामचन्द्र गाँधी के बीच का कल्पित संवाद है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह पुस्तक मात्र इन दो प्रविष्टियों के कारण ही संग्रहणीय हो गयी है। कपिला वात्स्यायन भी ग्रन्थ की पूर्वपीठिका में इसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह पाती हैं। सच पूछिये तो उनकी पूरी पूर्वपीठिका ही शैल की 'भूमिका' और 'कल्पित संवाद' को लेकर केन्द्रित है। विशेष रूप से शैल द्वारा प्रस्तुत 'कल्पित संवाद' न केवल पिछली सदी के दो महान दार्शनिकों के बीच के संवाद की झाँकी प्रस्तुत करता है बल्कि इसके माध्यम से यह एक तरह से पूर्व और पश्चिम, परम्परा और आधुनिकता, अद्वैत और बहुलतावाद और अन्ततः 'आत्म' तथा 'अन्य' या कहिए कि स्वयं अपने अन्तःकरण तथा आत्मा के बीच का संवाद प्रस्तुत करता है। इस संवाद के द्वारा शैल दयाजी और रामचन्द्र गाँधी के दर्शन को पूरी ईमानदारी और गंभीरता के साथ प्रस्तुत करने में सफल हुयी हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि दया जी के लिए दर्शन संवाद था– बुद्धि का स्वयं बुद्धि से संवाद। वस्तुतः चिन्तन की पद्धति ही वाद की पद्धति होती है। यह पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय इस प्रकार क्रमशः आगे चलती रहती है। इसीलिए बेट्टिना बॉमर कहती हैं कि संवाद जीवन की तरह एक निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया है, यह न तो किसी निष्कर्ष पर पहुँचकर खत्म हो जाती है और न ही जीवन के समाप्त होने से खत्म हो जाने वाली चीज है। जो लोग दया जी के निजी सम्पर्क में रहे हैं वे दया जी से होने वाले संवाद को कभी भूल नहीं सकते। इस संकलन में संकलित अधिकतर लेखों के लेखक यथा मुस्तफा ख्वाजा, बेट्टिना बॉमर, कपिला वात्स्यायन, माइकेल मैक्घी,अरिन्दम चक्रवर्ती, एस. लोकनाथन, सी.के.राजू या डैनियल रावेह दया जी से संवाद विषयक अपने रोचक संस्मरण को अपने लेखों के मध्य में स्थान देते हैं। दर्शन के प्रति उनकी निष्ठा तथा दार्शनिक विमर्श का उनका ढंग उनके सम्पर्क में आने वालों को सुकरात की याद दिलाता था। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रसिद्ध अमेरिकी विद्वान् इलिएट ड्यूश कुछ इन्हीं कारणों से दयाकृष्ण को भारतीयों का सुकरात बताते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

डैनियल रावेह के अनुसार यूँ तो दया जी का दार्शनिक जीवन नाना प्रकार के संवादों से भरा हुआ था पर ऐसा कहा जा सकता है कि मोटे तौर पर तीन तरह के संवाद से वे आजीवन रूबरू होते रहे। ये संवाद थे– तुलनात्मक दर्शन के रूप में संवाद, काण्ट के दर्शन से लगातार होने वाला संवाद तथा अन्ततः विभिन्न कलाकर्म और जीवन की कला से होने वाला संवाद। 1989 में प्रकाशित तुलनात्मक दर्शन पर अपने लेख में दयाकृष्ण तुलनात्मक अध्ययन की राजनीति से अपने विमर्श का आरम्भ करते हुए प्रश्न उठाते हैं कि सार्वभौमिकता के नाम पर एक प्रचलित और प्रतिष्ठित मत विशेष के आलोक में अन्य दूसरे समाज व संस्कृतियों का मूल्यांकन कहाँ तक उचित होगा ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि राजनीतिक व आर्थिक ताकत ने यह मिथ्या भ्रम पैदा कर दिया है कि जो कुछ भी पश्चिम में उपजा है वह सार्वभौमिक रूप से वैध है ? वास्तव में इस तरह के भ्रम से पैदा हुए एकतरफा मानकों पर आधारित तुलना सार्थक संवाद से हमें विमुख ही करती है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हमें तुलनात्मक अध्ययन से विरत हो जाना चाहिए। वास्तव में दया जी यह कहना चाहते हैं कि जिस वैचारिक अन्तः संरचना को लेकर व्यक्ति पैदा होता है उससे मुक्त होकर अन्य वैचारिक अन्तःसंरचनाओं की ओर बढ़ना आसान नहीं है। अतः अन्य से उसकी अन्यता में मिलना असंभव है, फिर भी अपरिहार्य है। इस असंभव लक्ष्य के लिए आवश्यक है कि तुलनात्मक अध्ययन का अध्येता अपनी वैचारिक गोत्र की अचेतन जड़ताओं और संरचनाओं से मुक्त हो। दया जी कहते हैं– "सार्थक संवाद तभी संभव है जब हम अन्य की तरह हो जाएँ, अन्य हो जाएँ, जब हम अन्य की दृष्टि से सोचने लगे, जब हम अन्य से अभिन्न हो जायें। पर क्या यह संभव है?.... "यह संभव नहीं भी हो तो भी हमें प्रयत्न करते रहना चाहिए।"

रावेह कहते हैं कि दया जी के अनुसार संवाद केवल व्यक्ति–व्यक्ति के बीच ही नहीं होता अपितु 'पाठ' और व्यक्ति के बीच भी संभव है क्योंकि पाठ (टेक्सट) कोई मृत और अपारदर्शी वस्तु नहीं होती है। एक सही संवाद परस्परता की अपेक्षा रखता है और दोनों पक्षों को पुनर्रूपायित करता है। यह संवाद चाहे व्यक्ति–व्यक्ति से हो या व्यक्ति–पाठ से। दया जी का ऋग्वेद से और काण्ट की रचनाओं से ऐसा ही संवाद था। जिस तरह पाठ से संवाद

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

संभव है उसी तरह कलाकृतियों से भी संवाद होता है। वस्तुतः कलाकृति कलामर्मज्ञों को संवाद के लिए उसी तरह आमन्त्रित करती है जिस तरह पाठ करती है।

इस पुस्तक के संकलित लेखों में बेट्टिना बॉमर और मुस्तफा ख्वाजा का लेख दया जी से सम्बन्धित उनके संस्मरणों पर केन्द्रित है। डैनियल रावेह और माइकेल मैक्घी के लेखों में सार्थक संवाद व विमर्श के स्वरूप, शर्त और उद्देश्य की मीमांसा की गयी है। अरिन्दम चक्रवर्ती, नीलिमा वशिष्ठ, सी.के. राजू और एस. लोकनाथन के लेखों में दया जी द्वारा उठाये गये किसी समस्या विशेष का उत्तर देने का प्रयास किया गया है। उदाहरण के लिये अरिन्दम चक्रवर्ती का लेख दया जी द्वारा उठाये गये प्रश्नों का कि लॉक के मूलगुण और उपगुण का विभाजन आत्मा पर कैसे लागू करेंगे, कि आत्मा या मन का उपगुण क्या होगा, कि आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का मानदण्ड मन और मानसिक अवस्थाओं पर भी लागू होगा, उत्तर देने का प्रयास करता है। इसी तरह से नीलिमा वशिष्ठ का लेख दया जी द्वारा की गयी रस सिद्धान्त की आलोचना का उत्तर देने का प्रयास करता है। एस.लोकनाथन का लेख दया जी के इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करता है कि स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों की तलाश का प्रयत्न कहीं हमको वहाँ तो नहीं ले जा रहा है जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान–व्यापार समाप्त हो जाएगा। देवशिया एम. एण्टोनी, अनुराधा वीरावल्ली तथा विजय बरुआ के लेख रामचन्द्र गाँधी के दार्शनिक चिन्तन को समझने का प्रयास करते हैं। प्रेड डालमायर और रमेश चन्द्र प्रधान अपने–अपने लेखों में दयाकृष्ण व रामचन्द्र गाँधी के दर्शनों में सामान्य तत्त्व को ढूढ़ने की चेष्टा करते हैं। रिचर्ड सोराबजी, त्रिदीप सुहृद और शंकर रामास्वामी के लेखों को इस संग्रह में शामिल करने का कोई औचित्य मुझे समझ में नहीं आया क्योंकि इनके लेख पुस्तक के मुख्य विषय से हटकर स्वतन्त्र प्रकृति के हैं।

जहाँ लोकनाथन का लेख गणित एवं विज्ञान के अन्तर्सम्बन्धों का गहन विमर्श प्रस्तुत करता है वहीं रमेश चन्द्र प्रधान के लेख में दयाकृष्ण और रामचन्द्र गाँधी के विशेष परिप्रेक्ष्य में नीति व धर्म के अन्तर्सम्बन्ध को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इस सन्दर्भ में प्रधान दयाकृष्ण द्वारा मानवीय मूल्यों के द्विविध वर्गीकरण को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्रधान कहते हैं कि दया के अनुसार दो तरह के मानवीय मूल्य हैं– कर्मपरक मूल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और अनुचिन्तनात्मक मूल्य। प्रथम प्रकार के मूल्य मूल में परार्थमूलक होते हैं जो अन्य के प्रति शुभाकांक्षा से जन्य होते हैं यथा करुणा, मैत्री, प्रेम आदि। जबकि द्वितीय कोटि के मूल्य आत्मिक स्वतन्त्रता, आध्यात्मिक बोध व शान्ति के होते हैं। ये मूल्य आत्मानुचिन्तन व आत्मविमर्श से जन्य होते हैं। प्रथम प्रकार के मूल्य सामाजिक व नैतिक होते हैं, जबकि दूसरी कोटि के मूल्य मूलतः उन क्षणों में जन्य होते हैं जब हम अपनी आन्तरिकता में स्वयं के प्रति उन्मुख होते हैं तथा आत्म पर विमर्श करते हैं। वस्तुतः यह क्षण शुद्ध आध्यात्मिकता का क्षण होता है। जाहिर है कर्मपरक या नैतिक मूल्यों का अनुशीलन सामाजिक व अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार के मूल्यों का अनुशीलन स्वभावतः देश, काल व नानाविध आगन्तुकताओं एवं उनकी परिसीमाओं से सीमित विश्व में हमारी अभियोजना से जन्य होता है। दूसरी ओर अनुचिन्तनात्मक मूल्य इन सीमाओं से बँधा नहीं होता है। चूँकि इस प्रकार के मूल्य स्वभावतः अनुभवातीत होते हैं, इसलिए अनुभव जगत् की सीमाओं का अतिक्रमण करने में सक्षम होते हैं। पुनश्च चूँकि इस प्रकार के मूल्य व्यक्ति की निजता से सम्बन्धित होते हैं तथा इनका उद्भव उसके एकाकी क्षणों में होता है; अतः शेष जगत् से अलगाव यहाँ स्वभाव से ही जुड़ा होता है। वस्तुतः अनुचिन्तनात्मक मूल्य आत्म–केन्द्रित होते हैं। इसका 'अन्य' से– देश, काल, कारणता के नियमों से बद्ध 'अन्य' से– कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसी कारण इस प्रकार के मूल्य धार्मिक जीवन में, दिव्य की रहस्यानुभूति में तथा उत्कृष्ट कला व सौन्दर्य के क्षेत्र में अधिक परिलक्षित होते हैं। विशुद्ध आत्म से सम्बन्धित होने के कारण व्यक्ति की चेतना अनुचिन्तनात्मक मूल्यों के अनुशीलन में अधिक स्वतन्त्रता व आनन्द महसूस करती है। चूँकि स्वतन्त्रता यहाँ देश, काल आदि सीमाओं का अतिक्रमण कर देती है इसलिए अनुचिन्तनात्मक मूल्य नैतिक या कर्मपरक मूल्यों से अधिक श्रेष्ठ और वरेण्य हो जाते हैं, हाँलाकि इन्हीं कारणों से दूसरे इनके प्रति शंकालु होते हैं। प्रधान का कहना है कि दया जी की ही तरह रामचन्द्र गाँधी भी अनुचिन्तनात्मक मूल्य को अधिक वरेण्य और श्रेष्ठ पाते हैं क्योंकि यह स्वयं मनुष्य के अनुचिन्तनात्मक स्वभाव की आवश्यकताओं के अनुकूल है। प्रधान के अनुसार दया जी और रामचन्द्र गाँधी दोनों के अनुसार काल से अकाल की ओर, देश से देशातीत की ओर तथा सीमित से असीम की ओर अतिक्रमण ही धार्मिक अनुभूति का सार है। धर्म वस्तुतः देश, काल, द्रव्य, कारणता आदि से सीमित जगत् से परे जाने की आकांक्षा है। धार्मिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चेतना स्वभावतः जगत् का अतिक्रमण करने वाली चेतना है। यह लोकोत्तर और अनुभवातीत असीम की चेतना है। प्रधान आगे कहते हैं कि दयाकृष्ण और रामचन्द्र गाँधी दोनों की रचनाओं में रहस्यात्मक संस्पर्श देखा जा सकता है क्योंकि महान आत्मायें बिना लोकोत्तर, असीम या अनुभवातीत का सहारा लिये नहीं रह सकतीं। प्रधान इस सन्दर्भ में दयाकृष्ण का उद्धरण देते हैं जिसमें दया जी कहते हैं कि जो समाज या व्यक्ति अनुभव के इस लोकोत्तर पक्ष की अवहेलना करता है या उससे कट जाता है वह अपने को उन गंभीर स्रोतों से वंचित कर लेता है जो मानवीय जीवन को अर्थपूर्ण बनाते हैं। मनुष्य की सत्ता का आधार अनुभवातीत लोकोत्तर में है और जो उससे विलग हो जाते हैं या कदाचित् उसके प्रति उदासीन या निषेधात्मक सम्बन्ध बना लेते हैं वे इस विशाल विश्व में एकाकीपन, अलगाव और रिक्तता के लिए अपने को अभिशप्त कर लेते हैं। इसी क्रम में प्रधान आगे दयाकृष्ण को रामचन्द्र गाँधी के ही तरह हृदय से अद्वैती बताते हैं। अब दया जी की रचनाओं में रहस्यात्मक संस्पर्श पाना तथा उन्हें अद्वैत के निकट पाना मेरे विचार से न केवल दयाकृष्ण की दार्शनिक साधना के साथ अन्याय है अपितु यह इस बात का भी सूचक है कि रचना व रचनाकार किस प्रकार समीक्षक की दया पर निर्भर होते हैं।

देवशिया एम. एन्टोनी तथा अनुराधा वीरावल्ली ने अपने लेखों में रामचन्द्र गाँधी के दार्शनिक जीवन की यात्रा को समझने का प्रयास किया है। डालमायर, रमेश चन्द्र प्रधान तथा शैल मायाराम की तरह ही इन लेखकों के अनुसार भी अद्वैत ही वह पूर्वपीठिका तथा अधिष्ठान है जिस पर गाँधी की यह यात्रा प्रतिष्ठित है। देवशिया के अनुसार जहाँ रामचन्द्र गाँधी का अद्वैत आत्मानुसंधान की गहन मीमांसा पर आधारित है वहीं अनुराधा वीरावल्ली रोजमर्रा की फिलासफी में इस अद्वैत की बुनियाद पाती हैं। पर प्रश्न है कि यदि सब कुछ अद्वैत है तो दिन–प्रतिदिन के प्रतीयमान भेद और नानात्व का समाधान कैसे हो ? अनुराधा कहती हैं कि दिन–प्रतिदिन का यह द्वैत साम्मुख्य की अपेक्षा रखता है न कि तिरस्कार का और यही परम्परागत अद्वैत से रामचन्द्र गाँधी के अद्वैत का वैलक्षण्य है।

देवशिया अपने लेख 'टुवर्ड्स ए न्यू हरमेन्युटिक ऑफ सेल्फ–इन्क्वायरी' में कहते हैं कि 'मैं कौन हूँ' यह दर्शन का मूलभूत प्रश्न है। उपनिषद् काल से रमण महर्षि तक या कहिये कि रामचन्द्र गाँधी तक दर्शन का मूल जिज्ञास्य 'आत्म' के स्वरूप का अनुसंधान रहा है। 'आत्मा वाऽरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

द्रष्टव्यो' जहाँ उपनिषद् के ऋषियों के लिये जिज्ञासा का सर्वप्रमुख विषय रहा है वहीं 'नो दाइसेल्फ' या 'स्वयं को जानों' सुकरात के लिये मूलभूत दार्शनिक समस्या रही है। रामचन्द्र गाँधी के दार्शनिक जीवन की यात्रा यद्यपि अनेकानेक नाटकीय मोड़ों व परिवर्तनों से भरी है फिर भी एक चीज जो आरम्भ से अन्त तक देखी जा सकती है वह यह कि गाँधी के लिये मूलभूत प्रश्न स्वयं को या 'आत्म' को समझना रहा है। गाँधी की आरम्भिक रचनाओं में इस 'आत्म' को 'अन्य' से संवाद में तलाशने की चेष्टा पायी जाती है। संवाद में ही 'आत्म' या 'मैं' मुखरित होता है। यह संवाद 'आत्म' से इतर 'अन्य' की अपेक्षा रखता है। जाहिर है अपने दार्शनिक जीवन के आरम्भिक चरण में रामचन्द्र गाँधी 'अन्य' या 'अनात्म' से पृथक् शुद्ध आत्म की अवधारणा को असंगत पाते हैं। भाषा और संप्रेषण का सूक्ष्म तार्किक विश्लेषण 'आत्म' के जिस स्वरूप से हमें परिचित कराता है वह न केवल अपने स्वरूप के लिये 'अन्य' की अपेक्षा रखता है, अपितु 'अन्य' वह अनिवार्य शर्त है जिसके कारण 'आत्म' को स्वयं का बोध होता है या स्वचेतना होती है। अपनी तमाम मौलिकताओं के बावजूद रामचन्द्र गाँधी का यह 'आत्मविमर्श' आत्म व अनात्म के मूलभूत द्वैत की पश्चिमी चौहद्दी से बाहर नहीं निकल पाता है। सत्तर के दशक के अन्त के साथ ही यह चौहद्दी टूटती है। रमण महर्षि और उनके माध्यम से अद्वैत का प्रभाव गाँधी के चिन्तन पर क्रमशः बढ़ता जाता है। 'आत्मा' या 'अहम्' का विमर्श अब भी केन्द्र में रहता है। पर शीघ्र ही गाँधी इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि किसी भी प्रकार का संवाद वस्तुतः 'आत्म' का 'आत्म' से ही संवाद है। संवाद 'अन्य' से हो ही नहीं सकता है। वस्तुतः कथित 'अन्य' या 'मैं' एक ही आत्मा के विभिन्न केन्द्र हैं, नानाविध संक्रेन्दण हैं। यदि 'मैं' को 'अन्य' से वस्तुतः अन्य या इतर समझा जाए तो यह न केवल किसी भी प्रकार के वास्तविक संलाप और संप्रेषण को असंभव कर देगा अपितु इस प्रकार की समझ अन्ततः हिंसा में विघटित होने के लिए अभिशप्त होगी। अस्तु रामचन्द्र गाँधी अद्वैत के मार्ग से घर की वापसी करते हैं। अद्वैत ही हिंसा, कलह, वैमनस्य और अशान्ति से मुक्ति का मार्ग है। महात्मा गाँधी की प्रतिस्थापना अद्वैत के ही रास्ते हो सकती है।

रामचन्द्र गाँधी का अद्वैत दर्शन परम्परागत अद्वैत से भिन्न है। अद्वैत की स्थापना के लिए गाँधी परम्परागत युक्तियों से भिन्न कुछ अत्यन्त मौलिक युक्तियों को प्रस्तुत करते हैं। 'संप्रेषण' और 'भाषा' का अपने द्वारा किया गया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पुराना विश्लेषण नए ढंग से काम में लिया जाता है। 'संप्रेषण' के तथ्य का पुंखानुपंख विश्लेषण करते हुए गाँधी कहते हैं कि जब तक 'मैं' और 'अन्य' के बीच इतरभाव बना रहेगा तब तक प्रामाणिक सम्प्रेषण दूर की चीज बनी रहेगी। इस बात को और स्पष्ट करने के लिए गाँधी 'सम्बोधन' का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'सम्बोधन' में हम किसी को बलपूर्वक या किसी कारण नियम से अपनी ओर उन्मुख नहीं करते हैं, बल्कि संबोधन तो दूसरे को उसकी पूरी चेतना के साथ उन्मुख करना है। यह कोई बाह्य या यान्त्रिक नियमन का ढंग नहीं है, अपितु देखा जाए तो यह इसी की अस्वीकृति है। 'सम्बोधन' का तथ्य इस बात की स्वीकृति है कि 'तुम' मुझसे भिन्न 'अन्य' नहीं हो जिस पर मैं अपने को बलपूर्वक लाद सकूँ। बल्कि सच तो यह है कि जब मैं किसी को 'हरि !' या 'भानु !' इस तरह किसी नाम से संबोधित करता हूँ तो उसे उसकी चेतना में उन्मुख करता हूँ। उसे आत्म–चेतन करता हूँ। अतः देखा जाए तो 'सम्बोधन' का तथ्य 'मैं तुम हूँ', 'दूसरा मैं ही हूँ', 'आई एम दाऊ' इस अद्वैत सत्य का प्रकटन करता है। तभी तो मेरे सम्बोधन से तुम सचेतन हो जाते हो, आत्मचैतन्य हो जाते हो। अब सम्बोधन के इस विश्लेषण से रामचन्द्र गाँधी मानवीय जीवन में अद्वैत को लेकर कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण निष्कष निगमित करते हैं– पहला यह कि 'तुम' मुझसे भिन्न नहीं हो जिससे मैं रूबरू हो रहा हूँ, दूसरा यह कि इसके द्वारा मैं तुम्हें आत्मचैतन्य कर रहा हूँ और चूँकि व्यक्ति स्वयं को ही सचेतन या उद्‌बुद्ध कर सकता है अतः तुम मेरी ही चेतना हो ओर तीसरा यह कि 'मैं' और 'तुम' वस्तुतः एक ही आत्मचेतना है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि रामचन्द्र गाँधी के अनुसार एक 'आत्म' मात्र की ही वास्तविक सत्ता हैं। यह आत्मा स्वयंप्रकाश है। हमारे लिए सब चीजें सन्दिग्ध हो सकती है पर आत्मा की चेतना और उसका बोध एक ऐसा निर्विवाद तथ्य है जिसको न तो नकारा जा सकता है और न जिस पर किसी तरह का संदेह ही किया जा सकता है। गाँधी 'आत्म' सम्बन्धी उन मतों का खण्डन करते हैं जो यह मानते हैं कि चेतना हमेशा किसी विषय की चेतना होती है। चेतना की विषयापेक्षा वस्तुतः किसी भी रूप में अनिवार्य नहीं है। इसी तरह से गाँधी उन मतों का भी खण्डन करते हैं जो यह मानते हैं कि चेतना आत्मशून्य है, कि कथित 'आत्मा' या 'मैं' वस्तुतः एक भ्रान्ति के सिवाय कुछ नहीं है। गाँधी के अनुसार हमारा सामान्य भाषिक व्यवहार और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitized by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सम्प्रेषण एक स्वचेतन आत्म के तथ्य को भली भाँति निदर्शित करता है जिसकी सत्ता मूलभूत, प्राथमिक और सारे संदेहों से परे है। गाँधी इस भ्रम को भी नकारते हैं कि चेतन आत्मा का ज्ञान केवल तभी होता है जब विषय का ज्ञान होता है। सही स्थिति तो यह है कि आत्मा की स्वचेतना या स्वयंप्रकाशता इस बात को सिद्ध करती है कि यह अपने अस्तित्व या बोध के लिए 'अन्य' पर निर्भर नहीं है। गाँधी यह स्वीकार करते हैं कि दिन–प्रतिदिन में अनुभव का जो स्वरूप हमारे सामने आता है वह आत्म–अनात्म, मैं–अन्य, विषयी–विषय, अस्मद् –युष्मद् से संमिश्र होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि आत्म भी अनात्म की तरह मिथ्या है या अनात्म भी आत्म की ही तरह सत्य है। यहाँ ध्यातव्य है शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य के उपोद्घात में इस विषय की विस्तार से मीमांसा की है और वह अन्त में इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि एकमात्र आत्म की ही सत्ता है और कि कथित अनात्म वस्तुतः–मिथ्या है। रामचन्द्र गाँधी को परम्परागत अद्वैत का यह मत मान्य नहीं है जो अनाात्म को मिथ्या मानता है। उनके अनुसार कथित 'अनात्म' मिथ्या न होकर 'आत्म' की ही लीला है। 'मैं' और 'तुम', चित् एवं अचित् , विषय और विषयी मूलतः आत्म स्वरूप ही हैं, या कहिये 'मैं' ही 'तुम' है – आई एम दाऊ। 'आत्म' और 'अन्य' की यह अनन्यता या अद्वैत ही गाँधी के अनुसार भारतीय संस्कृति की सारभूत विशेषता है। इस अद्वैत दृष्टि पर अधिष्ठित होने के कारण ही भारतीय सभ्यता नानाविध बहुलताओं और विभिन्नताओं को उनके अपने स्वरूप में पुष्पित, पल्लवित और प्रतिष्ठित होने का अवकाश प्रदान कर सकी। रामचन्द्र गाँधी कहते हैं कि आत्म और अनात्म में भेद देखना तथा यह सोचना कि 'यह विशेष शरीर ही आत्म है' तथा 'वह शरीर आत्म नहीं है' समकालीन मानवीय दुःस्थिति और सभ्यतागत असन्तोष–अशान्ति का मूलभूत कारण है।

यदि रामचन्द्र गाँधी के अनुसार भारतीय सभ्यता की सारभूत विशेषता उसकी अद्वैत दृष्टि है तो इसके विपरीत दयाकृष्ण के अनुसार नानाविध वैचारिक परम्पराओं की बहुलता और वैविध्य भरतीय परम्परा की मूल थाती है । भारतीय संस्कृति आरम्भ से ही भेद, नानात्व, वैविध्य, बहुलता व वैचारिक स्वतन्त्रता के प्रति प्रतिबद्ध रही है। ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि भेद या नानात्व, बहुलता और बहुविधता अद्वैत के धरातल पर ही फलते एवं फूलते हैं। बल्कि सही तो यह है कि अद्वैतवादी या विज्ञानवादी चिन्तन के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विपरीत वस्तुवादी, बहुलतावादी व भेदवादी चिन्तन बहुलता व वैविध्य को अधिक सुसंगत ढंग से दार्शनिक आधार प्रदान करते हैं। दया जी शुरू से लेकर अन्त तक दर्शन की इस बहुलवादी परम्परा के समर्थक रहे हैं। शैल मायाराम से सहमति व्यक्त करते हुए कहा जा सकता है कि किसी प्रकार के विज्ञानवादी या अद्वैतवादी चिन्तन के विपरीत वे आजन्म वस्तुवादी, बहुलतावादी और भेदवादी दर्शन के समर्थक रहे।

दयाकृष्ण का भारतीय चिन्तन को सबसे बड़ा अवदान यह है कि सर्वप्रथम उन्होंने इस मिथ को तोड़ने का सशक्त प्रयास किया कि भारतीय या कहिये कि पूर्वी चिन्तन शुद्ध तर्क एवं बुद्धि पर आधारित चिन्तन न होकर अर्द्ध–पौराणिक, रहस्यात्मक एवं धार्मिक अनुभूति की विवेचना मात्र है। यहाँ ध्यातव्य है कि हेगेल, हुसर्ल, हाइडेगर से लेकर प्राइस और फल्यू तक पश्चिमी दार्शनिकों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है जो यह मानने के लिए तैयार ही नहीं होती कि स्वेज नहर से पूर्व में भी शुद्ध तर्क या बुद्धि पर आधारित फिलॉसफी जैसी कोई चिन्तन प्रणाली मौजूद रही है। श्रद्धा, विश्वास या शब्द प्रमाण पर आधारित होने के कारण भारतीय दर्शन फिलॉसफी नहीं है क्योंकि फिलॉसफी शुद्ध तर्क और बुद्धि पर आधारित होती है। फिलॉसफी का उद्देश्य ज्ञान मात्र होता है, और यह ज्ञान भी ज्ञान मात्र के लिए–किसी मोक्ष या आत्मविश्रान्ति के लिए नहीं। जाहिर है चूँकि भारतीय दर्शन का उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार और मोक्ष की प्राप्ति है तथा यह शुद्ध बुद्धि मात्र पर आधारित न होकर शब्द प्रमाण को प्रमुखता देती है अतः भारतीय दर्शन फिलॉसफी न होकर फिलॉसफी से भिन्न कोई अन्य चिन्तनविधा है या अधिक से अधिक यह थियोलोजी मात्र है। दयाकृष्ण अपनी रचनाओं में भारतीय दर्शन की उपर्युक्त समझ पर न केवल प्रश्न उठाते हैं अपितु उसे सिरे से खारिज करते हैं। वास्तव में भारतीय दर्शन की उपर्युक्त छवि बनाने में केवल पश्चिमी भारतविदों व आचार्यों की ही भूमिका नहीं थी बल्कि जैसा कि जोनार्दन गनेरी कहते हैं इसमें विवेकानन्द और राधाकृष्णन् जैसे भारतीय मनीषियों का उतना ही योगदान था जो पश्चिम से अलग पूर्व की व्यावर्त्तक विशेषता उसकी आध्यात्मिक जड़ों में पाते थे। बहरहाल दया जी इस बात को सिरे से नकारते हैं कि भारतीय दर्शन मोक्षविद्या या अध्यात्मशास्त्र है।

भारतीय दर्शन अध्यात्मशास्त्र या मोक्षविद्या न होकर पूरी तरह से बुद्धि एवं तर्कणा पर आधारित चिन्तन व्यापार है, आन्वीक्षिकी है। चिन्तन में तर्क एवं युक्तियों की आरम्भ से ही यहाँ प्रधानता रही है, बिना प्रमाण या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साक्ष्य के किसी भी चीज को स्वीकार नहीं किया जाता है। हर मान्यता और हर कथन पर प्रश्न उठाने की–शंका करने की प्रवृत्ति भी रही है और उसकी स्वतन्त्रता भी। पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष, खण्डन और प्रतिस्थापना द्वारा ही भारतीय दर्शन आगे बढ़ा है। भारतीय दर्शन में तर्क एवं युक्तियों की प्रधानता तो रही ही है और इसके साथ ही इन तर्क एवं युक्तियों के विवेचन के लिए सुव्यवस्थित तर्कविद्या, न्यायशास्त्र या प्रमाण शास्त्र का भी यहाँ समानान्तर विकास देखा जा सकता है। सच पूछिये तो भारतीय सभ्यता को हम तब तक नहीं समझ सकते हैं जब तक उस तर्कशास्त्र–प्रमाणशास्त्र को नहीं समझते जिसके द्वारा भारतीय समस्याओं को उठाते हैं तथा सत्ता सम्बन्धी अपनी समझ बनाते हैं। दर्शन को अध्यात्मशास्त्र और मोक्षविद्या समझने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि यहाँ तर्कविद्या, न्याय या प्रमाणशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा रही है। दया जी के अनुसार, जैसा कि शैल कहती हैं, वस्तुतः आध्यात्मिक खोज भारतीय सभ्यता का एक पहलू मात्र है, हम क्यों उसके अन्य पहलूओं को नजरन्दाज कर बैठते हैं– यथा ज्ञान की खोज, दार्शनिक खोज, वैज्ञानिक खोज, कला व सौन्दर्यानुभूति की खोज तथा अन्य दूसरे हजारों खोज जिनका देश व युग के अनुरूप स्वरूप बदलता रहता है।

दर्शन जगत् को दया जी का वास्तविक अवदान उनकी अमूल्य कृति 'टुवर्ड्स ए थ्योरी ऑफ स्ट्रक्चरल एण्ड ट्रान्सेन्डेण्टल इल्यूजन्स' है। यह कृति मरणोपरान्त बहुत बाद में वर्ष 2012 में ही प्रकाशित हो सकी। दार्शनिक जगत् हालाँकि अभी भी इस महत्त्वपूर्ण कार्य की गंभीरता से अपरिचित है। शैल मायाराम बधाई की पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक को न केवल अपने विमर्श में स्थान दिया है अपितु प्रसेनजित विश्वास से पुस्तक को केन्द्र में रखकर एक लेख भी लिखवाया है। हालाँकि प्रस्तुत समीक्षक के मत में प्रसेनजित दया जी के गंभीर दार्शनिक मन्तव्यों को उद्घाटित करने में बुरी तरह से असफल रहे। दया जी की अन्तिम कृति वस्तुतः जैसा कि डेनियल रावेह कहते हैं उनके काण्ट के दर्शन के साथ किये गये जीवन भर के संवाद का प्रतिफल है। दया जी इस कृति में काण्ट के दर्शन को और आगे बढ़ाते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि काण्ट की ख्याति उनकी प्रसिद्ध 'समीक्षाओं' के कारण है, विशेष रूप से शुद्ध बुद्धि की गयी उनकी समीक्षा के कारण। बुद्धि के स्वरूप की गहन समीक्षा में काण्ट यह दिखाते हैं कि किस प्रकार बुद्धि का स्वरूप एक दर्पण मात्र का नहीं है । जिस जगत् को बुद्धि जानती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है वह वस्तुतः स्वयं बुद्धि की अपनी कोटियों से विनिर्मित होती है। इस विनिर्माण की प्रक्रिया में जो सबसे महत्त्वपूर्ण होता है वह यह कि जो चीजें 'प्रदत्त' रूप में समझी जाती हैं वे वस्तुतः प्रदत्त न हो उसकी संरचक प्रक्रिया का अंश होती हैं। रचना प्रक्रिया की 'पूर्वापेक्षाओं' को 'प्रदत्त' समझ लेना वह संरचनात्मक और प्रागनुभविक भ्रम है जो मानवीय जगत् से या चेतन जगत् से जन्मना जुड़ी है। अपनी शुद्धबुद्धिमीमांसा में काण्ट बुद्धि जगत् से सम्बन्धित संरचनागत और प्रागनुभाविक भ्रमों का विशद् विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। पर काण्ट के दर्शन में कुछ चीजें अनुत्तरित व अपूर्ण रह जाती हैं। उदाहरण के लिये जैसा कि दया जी कहते हैं जिस प्रकार मानवीय चेतना का बौद्धिक पक्ष बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा बौद्धिक जगत् की रचना करता है, उसी प्रकार भावनात्मक पक्ष भावजगत् की रचना करता है, संकल्पनात्मक पक्ष कर्म जगत् की रचना करता है। एवंविध मानवीय चेतना के नानाविध आयाम हैं और हर आयाम एक जगत् की सृष्टि करता है। इसी प्रकार हर सृष्टि प्रक्रिया की कुछ मूलभूत पूर्वमान्यताएँ होती हैं जो उस सृष्टि जगत् को रूप प्रदान करती हैं। अब इन पूर्वमान्यताओं को पूर्वमान्यता न समझ कर प्रदत्त समझने की संभावना चेतना के हर आयाम से जुड़ी होती है। फलतः कहा जा सकता है जिस प्रकार बौद्धिक जगत् के अपने संरचनात्मक और प्रगनुभविक भ्रम हैं उसी प्रकार भावजगत् व कर्मजगत् के अपने। दया जी का कहना है कि काण्ट चेतना के बौद्धिक पक्ष तक ही उलझा रहा और अपनी महत्त्वपूर्ण दृष्टि का उपयोग चेतना के अन्य दूसरे आयामों के संदर्भ में नहीं कर सका। हालाँकि दया जी मानते हैं कि काण्ट की इस महत्त्वपूर्ण दृष्टि का कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और उनके पुत्र कालिदास भट्टाचार्य और अधिक विकास करते हैं तथा चेतना के त्रिविध पक्षों व उनके द्वारा सृष्टि उनके अपने–अपने समानान्तर वैश्विक रचनाओं के स्वरूप को उद्घाटित करने का पूरा प्रयास करते हैं। उनकी तमाम विशेषताओं के बावजूद भट्टाचार्य उभय के मत में दयाकृष्ण जो प्रधान दोष देखते हैं वह यह कि ये आचार्य मानों यह समझ बैठते हैं कि इन विभिन्न स्तरों के विश्व एकान्तिक रूप से एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं तथा विकल्पन की संभावना मात्र इन तीनों में ही विघटित होती है। काण्ट से दया जी की एक अन्य शिकायत यह है कि उसने इन्द्रिय जगत् व बौद्धिक जगत् की संरचना के आकारिक स्वरूप को तो गहनता से विश्लेषित करने का प्रयास किया पर आत्मचेतना के स्वरूप की कोई मीमांसा प्रस्तुत नहीं की।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि चेतना के हर आयाम के अपने विश्व हैं तो फिर इस आत्मचेतना के सन्दर्भ में भी यह प्रश्न उठेगा कि उसकी रचनाप्रक्रिया क्या है, उसका स्वयं का स्वरूप क्या है तथा उसके द्वारा रचित विश्व का स्वरूप क्या है ? दयाकृष्ण अपनी अंतिम रचना में आत्मचेतना के स्वरूप का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं तथा साथ ही इस आत्मचेतना की प्रक्रिया द्वारा जो जगत् रचा जाता है उसकी संरचनात्मक पूर्वमान्यताओं एवं 'प्रदत्त' के बीच के व्यामिश्र का विश्लेषण करते हैं। इस पुस्तक में दयाजी न केवल चेतना के बौद्धिक पक्ष अपितु संकल्पात्मक व भावनात्मक पक्षों की सृजनात्मकता तथा उससे उपलब्ध जगत् की गंभीर विवेचना प्रस्तुत करते हैं तथा इसके साथ ही उन संरचनात्मक और प्रागनुभविक भ्रमों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं जो इस प्रकार के जगत् में मूल से ही जुड़े हैं। इन भ्रमों का विश्लेषण जहाँ एक ओर इनकी भ्रमात्मकता को प्रदर्शित करता है वहीं वह आत्मचेतना के स्वातन्त्र्य को भी प्रदर्शित करता है। नए–नए लोकों की रचना, उनसे स्वयं भी रचित होना और फिर उन सबका प्रत्याख्यान कर देना– यह एक ऐसा खेल है जो नटराज के नृत्य की तरह आत्म–चेतना में निरन्तर चलता रहता है।

दयाकृष्ण मानवीय चेतना के 'कर्मपरक' पहलू पर विशेष चर्चा करते हैं क्योंकि जहाँ ज्ञानपरक पहलू और भावपरक पहलू में स्वभावतः 'अहंकेन्द्रिता' अनुप्रविष्ट रहती है, वहीं कर्म का पहलू ऐसा है जिसमें 'अन्य' को केन्द्र में रखना होता है। कर्म न केवल 'अन्य' से सम्बन्धित होता है अपितु अधिकतर कर्मों का स्वरूप ऐसा होता है कि वे दूसरों के साथ मिलकर ही किये जा सकते हैं। दयाकृष्ण कहते हैं कि कर्म का अर्थ ही है 'अन्य' पर आश्रित होना– शरीर पर, इन्द्रियों पर, कार्य–कारण के ज्ञान पर, मूल्यों–आदर्शों–साध्यों के बोध पर और सबसे अधिक अपने समान अन्य 'दूसरों' पर जिनकी सहायता से ही किसी कर्म के उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है। कुल मिलाकर यह चेतना का ऐसा क्षेत्र है जो हमें आत्मा के व्यक्तिनिष्ठ प्रकोष्ठ से निकालकर समूह, समाज, संस्कृति व सभ्यता के ऐसे अन्तर्विषयी जगत् में ले जाता है जहाँ व्यक्ति 'मैं' से अधिक 'हम' होता है और जिसकी रचना किसी 'व्यक्ति' मात्र की न हो 'मनुष्य' मात्र की होती है। अब यदि इस कर्मपरक विश्व की विशेष अन्वीक्षा की जाए तो हम सहज समझ सकते हैं कि मानव स्वतन्त्रता को लेकर प्रस्तुत परम्परागत मत चाहे पौर्वात्य हों या पाश्चात्य इस तथ्य को समझने में असमर्थ रहे कि 'अन्य' हमारी स्वतन्त्रता में बाधक नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपितु साधक है। हमारी स्वतन्त्रता 'अन्य' की स्वतन्त्रता से सीमित न होकर बल्कि और अधिक पुष्ट होती है, और अधिक लक्ष्य में सफल होती है। दया जी जिस स्वतन्त्रता और स्वराज की बात करते हैं वह एकाकी मनुष्य का आध्यात्मिक स्वराज नहीं है, क्योंकि वह तो सबको सर्वदा उपलब्ध ही है और जिस बात को महात्मा गाँधी हिन्द स्वराज में रेखांकित भी करते हैं। दया जी जिस स्वराज और स्वतन्त्रता की बात कर रहे हैं वह निरन्तर निर्मित और विकसित हो रही सभ्यता व संस्कृति का वह उत्कृष्टतम रूप है जिस ओर मानवता अग्रसर है। वस्तुतः मनुष्य मात्र आध्यात्मिक प्राणी नहीं है, वह सामाजिक प्राणी है, राजनीतिक प्राणी है, आर्थिक प्राणी है और ये उसके ऐसे पहलू हैं जो उसकी सामूहिकता से अनिवार्य रूप से जुड़े हैं। यद्यपि हर कृति (रचना) रचनाकार को प्रभावित करती है पर कर्मपरक चेतना से सृष्ट जगत् स्वयं अपने रचयिता को ही नियन्त्रित करने लगता है। परस्परभाव का, अन्योन्यभाव का ऐसा संसार रचित होता है जिसमें रचना और रचनाकार दोनों परस्पर के स्वरूप को निर्धारित करते हैं।

संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि हेगेल की तरह दया जी के अनुसार भी विश्व–इतिहास की कहानी चेतना और आत्मचेतना की क्रमिक रूप से उत्तरोत्तर पूर्णता की ओर अग्रसर होने की कहानी है। चेतना निरन्तर अपने को नए–नए रूपों में ढालती है, नूतन लोकों का सृजन करती है, उसमें अभियोजन करती है और फिर आत्मचेतना के स्तर पर अपने को अपने इन सृजित रूपों से अलग भी कर लेती है। जाहिर है प्रवृत्ति और निवृत्ति, उन्मेष और निमेष, अभियोजन और वियोजन की प्रक्रिया चेतना में चलती रहती है। यहाँ ध्यातव्य है कि परम्परागत भारतीय चिन्तन के लिए चेतना की यह निवृत्ति या निमेष विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसे विभिन्न दर्शनों में 'मोक्ष', 'मुक्ति', 'कैवल्य', 'निर्वाण' इन नामों से अभिहित किया गया है। रामचन्द्र गाँधी के लिए भी जीवन का परम उद्देश्य कदाचित् इसी की प्राप्ति है। पर जहाँ तक दयाकृष्ण का प्रश्न है तो उनके लिए नानाविध रूपों में उन्मज्जन, उन्मेष या प्रवृत्ति का पक्ष निवृत्ति से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जो चेतना दया जी के लिए अध्ययन का विषय है वह क्रियारत चेतना है, अन्यों के मध्य अवस्थित चेतना है, अन्यों से पूरित होती हुयी और उन्हें पूरित तथा पुष्ट करती हुयी चेतना है। जाहिर है जगत् से अलगाव में नहीं अपितु जगत् में सक्रिय भागेदारी में दया जी मानवीय चेतना और उसकी स्वतन्त्रता का मूल स्वरूप पाते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

दया जी जीवन को उसकी सम्पूर्णता में जीने का आह्वाहन करते हैं। जीवन भागने की चीज नहीं है, जीने की चीज है, भोगने की चीज है। वस्तुतः आत्मा की विशेष समझ के कारण ही संन्यासवादी और मोक्षवादी दर्शन पनपते हैं। दयाकृष्ण आत्मशून्य चेतना के मत को प्रस्तावित करते हैं। वे चेतना और आत्मचेतना को अपने दर्शन के केन्द्र में रखते हैं, पर यह चेतना कोई आत्मा नामक तत्त्व नहीं है। कथित 'मैं' वस्तुतः 'अन्य' पर आश्रित और उससे सृजित होती है। अब यदि 'आत्मा' और 'अन्य' का इस तरह से सम्बन्ध है तो फिर 'आत्म' और 'अन्य' का संवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि इस संवाद से ही उस प्रक्रिया को समझा जा सकता है जिससे कथित 'मैं' या 'अन्य' सृजित होता है। दयाकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन इस व्यापक उद्देश्य के लिए संवाद को समर्पित था। हर संवाद का उद्देश्य 'सत्य' तक पहुँचना होता है– उस 'सत्य'तक जो अभी निर्मित हो रहा है, स्वरूप लेने की प्रक्रिया में है, भविष्य के गर्भ में है। देखा जाए तो 'सत्य' यदि स्थावर तथा सिद्ध हो तो फिर संवाद का कोई मतलब नहीं। सही तो यह है कि संवाद की प्रक्रिया में 'सत्य' न केवल उद्घाटित होता है अपितु निर्मित होता है।

प्रेड डालमायर अपने लेख में 'स्वतन्त्रता' विषयक दया कृष्ण और रामचन्द्र गाँधी की परस्पर भिन्न अवधारणाओं को समझने का प्रयास करते हैं। यद्यपि दोनों ही चिन्तक मानवीय स्वतन्त्रता या स्वराज को केन्द्र में रखते हैं तथापि इसको लेकर दोनों में मतभेद है। डालमायर के अनुसार जहाँ दया जी आरम्भ से लेकर अन्त तक समीक्षात्मक दर्शन की परम्परा में अधिष्ठित रहे तथा जहाँ उन्होंने बौद्धिक स्वतन्त्रता को केन्द्र में रखा वहीं रामचन्द्र गाँधी के लिए स्वतन्त्रता मात्र बाह्य सीमाओं और बन्धनों से मुक्ति न होकर कहीं गहरी 'तत्त्वमीमांसीय स्वतन्त्रता' थी। यह आत्मा की अद्वैत स्थिति का साक्षात्कार था। वस्तुतः दार्शनिकता के ये दो परस्पर विरोधी प्रकार पश्चिम और पूर्व की चिन्तना में बार–बार परिलक्षित होते हैं। डालमायर का कहना है कि यद्यपि दार्शनिकता के इन दो प्रकारों में आसानी से सहमति ढूँढ़ी नहीं जा सकती है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि ये परस्पर भिन्न धरातल पर अवस्थित हैं। डालमायर इस सन्दर्भ में मोर्लियो पोन्ती की 'फेनॉमेनॉलॉजी ऑफ परशेप्सन' तथा 'सेन्स एण्ड नॉनसेन्स' में अभिव्यक्त उस दृष्टि की विशद् विवेचना करते हैं जिसके अनुसार किसी भी वस्तु (आकृति) का प्रत्यक्ष किसी धरातल पर ही होता है। डालमायर कहते हैं कि प्रथम द्रष्ट्या पूर्व या पश्चिम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अथवा रामचन्द्र गाँधी या दयाकृष्ण के दर्शनों में विरोध दिखाई पड़ने पर भी वे वस्तुतः एक ही धरातल पर खड़े मिल सकते हैं। डालमायर का कहना है कि दयाकृष्ण और रामचन्द्र गाँधी दोनों ही 'द्वैतवादी वस्तुवाद' की प्रभुता का विरोध करते हैं जो रामचन्द्र गाँधी के शब्दों में समस्त जीवन व सभ्यता के लिए अत्यन्त विनाशकारी है। जाहिर है डालमायर भी रमेश चन्द्र प्रधान की ही तरह रामचन्द्र गाँधी के साथ–साथ दयाकृष्ण को 'अद्वैत' की भूमि पर अधिष्ठित पाते हैं, जो मेरे अनुसार कम से कम दयाकृष्ण को तो कतई स्वीकार्य नहीं होता।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

◆◆◆

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collec

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ISSN 0974 0053

CC-0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma. Varanasi Collection.